

प्रधान-सम्पादक

यशदेव शल्य

मुकुन्द लाठ

सम्पादक

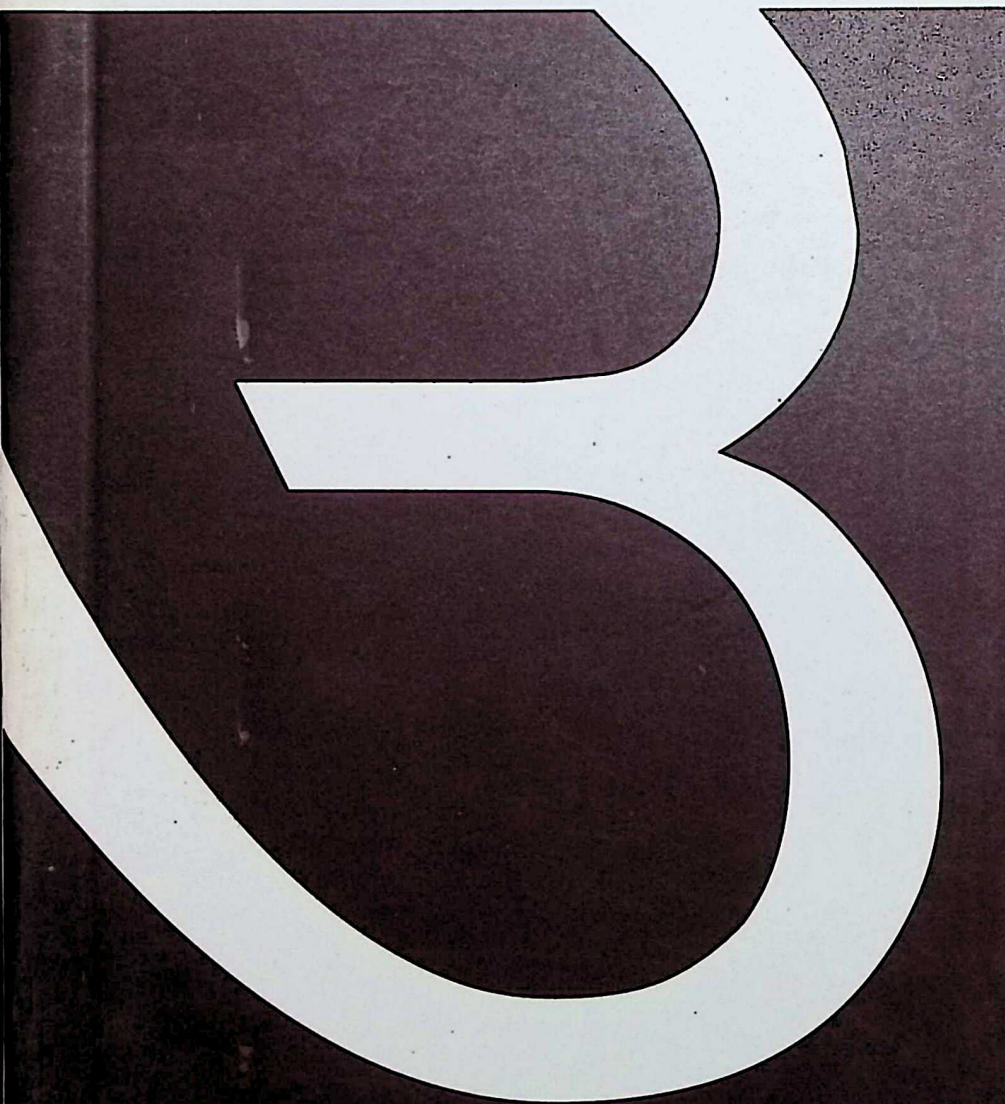
अम्बिकादत्त शर्मा

प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षण्मासिक

वर्ष 33, अंक 1
जनवरी-जून, 2019



वर्ष 33, अंक 1

जनवरी-जून, 2019

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान-सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुन्द लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

परामर्शदाता

1. रामजी सिंह, 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना-800001
2. अशोक वाजपेयी, सी-60, अनुपम को-ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली-110096
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003
4. अशोक वोहरा, सी-748, विकासपुरी, नई दिल्ली-110018

प्रधान-सम्पादक

1. यशदेव शल्य, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015, दूरभाष 0141-2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर-302019 दूरभाष 0141-2294727 / 2293725

सम्पादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.-37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर-470003 दूरभाष 07582-264587 मो. 09406519498
2. प्रदीप कुमार खरे, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल-462039, दूरभाष 0755-2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053

UNMEELAN (Refereed Journal)

वार्षिक शुल्क

व्यक्तिगत : रु. 100 /-

संस्थाएं : रु. 200 /-

आजीवन शुल्क

व्यक्तिगत : रु. 2000 /-

संस्थाएं : रु. 5000 /-

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान-सम्पादक - उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें - अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुन्द लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए प्रकाशित।

अनुक्रमणिका

- | | |
|---|-----|
| 1. आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार कांट
के दर्शन का तात्पर्य (1)
अरविन्द कुमार राय | 5 |
| 2. चित्राद्वैतः
मूल लेखक : आचार्य ज्ञानश्रीमित्र
हिन्दी रूपान्तरकार : हरिशंकर सिंह | 77 |
| 3. पुस्तक—समीक्षा
बौद्ध प्रमाण दर्शन : प्रमाणशास्त्रीय सिद्धान्तों
का अधिप्रामाण्य विश्लेषण
दिग्विजय मिश्र | 143 |

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

- | | | | |
|---|---|---------------------|--------|
| 1. संगीत और चिन्तन
(शंकर पुरस्कार से सम्मानित) | — | मुकुंद लाठ | 100.00 |
| 2. धर्म-संकट | — | मुकुंद लाठ | 200.00 |
| 3. कर्म-चेतना के आयाम | — | मुकुंद लाठ | 250.00 |
| 4. क्या है? क्या नहीं है? | — | मुकुंद लाठ | 150.00 |
| 5. मूल्यतत्त्व-मीमांसा
(शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित) | — | यशदेव शल्य | 200.00 |
| 6. चिद्विमर्श | — | यशदेव शल्य | 175.00 |
| 7. तत्त्व-चिन्तन | — | यशदेव शल्य | 200.00 |
| 8. चित् की आत्म-गवेषणा | — | यशदेव शल्य | 250.00 |
| 9. काव्य-विमर्श | — | यशदेव शल्य | 250.00 |
| 10. मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य
दर्शन-धाराएं | — | यशदेव शल्य
भगवती | 150.00 |
11. यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- है। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975

आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार कांट के दर्शन का तात्पर्य (१)

अरविन्द कुमार राय

मनुष्य नैतिक होने के लिए पैदा हुआ है। यदि कोई मनुष्य नैतिकता खो देता है, और जीवित भी है, तो मृत्यु के चंगुल से उसका बचा रहना मात्र सु-संयोग का फल है।

— कन्फ्यूसियस

इस निबंध-शृंखला में प्रो. के.सी. भट्टाचार्य द्वारा विरचित पुस्तक—कांट के दर्शन का तात्पर्य में प्रतिपादित विषयों का क्रमशः विवेचन किया जायेगा। इस भाग में निश्चितता, निश्चितता के प्रकार का विवेचन, कांट का नैतिक दर्शन तथा भट्टाचार्य जी द्वारा कांट के नैतिक दर्शन पर की गयी टिप्पणियों का ही विवेचन अभिप्सित है। ग्रंथ का अनुवाद प्रो. मुकुन्द लाठ ने हिन्दी में किया है। ग्रंथ का आरम्भ उन्होंने 'कृति परीक्षा' या धर्म' परीक्षा' से किया है। ग्रंथ के इस अंश मुकुन्द लाठ कृत हिन्दी अनुवाद परिशिष्ट में दे दिया गया है।

I

अनेक दार्शनिकों के सम्मुख यह समस्या उपस्थित होती है कि जिन प्रत्ययों के माध्यम से वे अपने दर्शन को व्यवस्थित करते हैं या आकार देते हैं, उनका तात्त्विक स्वरूप क्या है? क्या वे सत्य हैं, असत्य हैं या काल्पनिक हैं? भारतीय दार्शनिक नागार्जुन का पक्ष सर्वविदित है। उसने दो प्रकार के सत्त्यों का विभाजन किया है तथा अपने महत्त्वपूर्ण प्रत्ययों को संवृति-सत्य की कोटि में रखा है। परमार्थ के विषय में आर्यजन तूष्णींभाव रखते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक विट्गेंस्टाइन ने जिस दर्शन का प्रतिपादन ट्रैक्टेटस में किया है, उसमें वे नागार्जुन के नजदीक ही प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार, जिन्होंने उनके दर्शन को समझ लिया है, उनके लिए उनके

कथन निरर्थक हो गये हैं। यह प्रश्न कांट के भी दर्शन में खड़ा होता है। ज्ञाता की एकता, परमार्थ, स्वतंत्रता, निरपेक्ष आदेश, ईश्वर आदि तत्त्वों के माध्यम से कांट ने अपने दर्शन को व्यवस्थित किया है। क्या ये तत्त्व काल्पनिक हैं या यथार्थ हैं ? क्या इन सभी के बोध की प्रमाणिकता एक समान है या पृथक्-पृथक् है ? क्या ये निश्चित हैं या संदिग्ध हैं ? इन्हीं मूल-प्रश्नों का समाधान प्रो. के.सी. भट्टाचार्य ने अपने ग्रंथ कांट के दर्शन का तात्पर्य नामक ग्रंथ में देने का प्रयास किया है।

20वीं शती में कांट के प्रसिद्ध व्याख्याकार फाहिंगर (1852-1933) ने कांट के दर्शन में प्रतिपादित प्रमुख तत्त्वों-परमार्थ, स्वतंत्रता आदि को उपयोगी काल्पनिक तत्त्व (Fiction) माना है। परिकल्पना (Hypothesis) और कल्पना में अंतर है। परिकल्पना यथार्थ होने के लिए मानी जाती हैं। उदाहरण के लिए यदि हम यह परिकल्पना करते हैं कि मानव पशुओं की संतान है तो अप्रत्यक्ष रूप से मानव के पूर्वजों के रूप में पशुओं को स्वीकार करते हैं। कल्पना के विषय में पूर्व निश्चितता रहती है कि ये यथार्थतः अभिव्यक्त नहीं हो सकते हैं। कांट के दर्शन में परमार्थ, विकल्प, स्वतंत्रता आदि को काल्पनिक तत्त्व माना जा सकता है। कांट कहता है कि स्वतंत्रता को बौद्धिक प्राणी के गुण के रूप में माना जा सकता है। फाहिंगर के अनुसार यहाँ 'माना जा सकता है' का अर्थ कल्पना है।

भट्टाचार्य जी के अनुसार इस समस्या का समाधान एक अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है। साधारणतः हम ज्ञानात्मक निश्चितता को ही महत्त्व देते हैं। उसी के तराजू में अन्य प्रकार की निश्चितताओं को तौलने का प्रयास करते हैं। ज्ञानेतर निश्चय को नहीं मानते हैं। इस प्रकार की समस्याएँ, इस दोष का ही प्रतिफल है। इसलिए 'कृति परीक्षा' में वे इसका संकेत करते हुए कहते हैं कि 'साधारणतः ज्ञानेतर निश्चय को स्वीकार नहीं किया जाता है। लेकिन नीतिशास्त्र के प्रसंग में तथा सौन्दर्य बोध के प्रसंग में ज्ञानेतर निश्चय प्रासंगिक हो जाता है।

मानव कर्मशील प्राणी है।² विभिन्न विश्वासों में भेद का आधार, हमारे कार्मिक व्यवहार हैं। यदि कोई 3 साल का बालक $2 + 3 = 6$ कहता है, तो हम समझ जाते हैं कि उसे स्कूल भेजना चाहिए। किसी स्वादिष्ट भोजन का रसास्वादन प्रिय होने के कारण यदि हम, यह जानते हुए भी कि यह हानिकारक है, करते हैं तो हमारा निर्णय सुखात्मक अनुभूति से निर्धारित

होता है। रूपाकर्षण से विवश होकर पाण्डु ने माद्री से सहवास किया। वह यह जानते थे कि इस सहवास के बाद उनके जीवन का अंत हो जायेगा। इन उदाहरणों से यह अत्यंत स्पष्ट है कि हमारे निर्णय का आधार, कहीं ज्ञानात्मक निश्चितता के कारण, कहीं सुख-दुःख की संवेदना के कारण तथा कहीं कर्तव्य बोध की निश्चितता के कारण, होता है। विभिन्न प्रकार के विश्वास और निर्णय अपने कार्मिक परिणामों से भेदित होते हैं। यदि ऐसा नहीं है, तो सी.एस. पर्स के अनुसार, इस विश्वासों और विचारों का भेद काल्पनिक है। कांट के दर्शन में तीनों परीक्षाओं का औचित्य, भट्टाचार्यजी के अनुसार, अनेक प्रकार की निश्चितताओं में भेद के कारण है।

II

कांट ने नैतिक विधान के क्षेत्र में कुछ तत्त्वों को श्रद्धा के आधार पर स्वीकार किया है। श्रद्धा पर आधारित ईश्वरीय विश्वास को ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार के प्रसंगों की व्याख्या, ज्ञान निश्चय और ज्ञानेतर निश्चय के भेद के बिना नहीं किया जा सकता है। क्या ज्ञान-निश्चय, ज्ञानेतर निश्चय की अपेक्षा निर्बल है? कांट ने वैचारिक (Speculative) दृष्टि से निर्बल होते हुए भी ऐसे विश्वासों का समर्थन किया है जिनका आधार कार्मिक या सुख या दुःख की संवेदना है। विश्वासों को ग्रहण करने में विषयनिष्ठ (objective) आधार के अतिरिक्त विषयीनिष्ठ (subjective) आधार भी रहते हैं।¹ किसी कथन के विषय में धारणात्मक (opining), विश्वासात्मक (believing) तथा ज्ञानात्मक (knowing) स्थिति संभव है। धारणा तब होती है, जहाँ आत्मनिष्ठ और विषयनिष्ठ दोनों आधार संशयात्मक होते हैं। विश्वास तब होता है, जब आत्मनिष्ठ आधार निःसंशयात्मक होता है लेकिन विषयनिष्ठ आधार अपर्याप्त होता है, क्योंकि इसके विषय में सार्वभौम संप्रेषण और सार्वभौम तार्किक सिद्धि के प्रदर्शन का आधार अपर्याप्त होता है। ज्ञान तब होता है, जब विषयीनिष्ठ तथा विषयनिष्ठ दोनों आधार पर्याप्त होते हैं। श्रद्धा को समझने के लिए कांट के अनुसार, ज्ञान की भाषा अत्यंत सबल तथा धारणा की भाषा अत्यंत निर्बल है। इसके लिए विश्वास की भाषा उपयुक्त है। लेकिन नैतिक रूप से विश्वास-आधारित-तत्त्वों को समझने के लिए विश्वास का परिष्कार भी अपेक्षित है।

व्यवहारिक दृष्टि से विश्वास के दो प्रभेद संभव हैं— एक दक्षता (Skill) की दृष्टि से, दूसरा नैतिकता की दृष्टि से। प्रथम में हमारा लक्ष्य आगंतुक या वैकल्पिक होता है, द्वितीय में निरपेक्षतः अनिवार्य होता है। प्रथम दृष्टि से दो प्रकार के विश्वास संभव हैं—उपयोगी (pragmatic) तथा सैद्धान्तिक (doctrinal)। कोई चिकित्सक किसी बिमारी को पकड़ने में असमर्थ होते हुए भी किसी मरीज को बचाने के लिए कुछ दवा का प्रयोग करने से नहीं हिचकता है। वह स्वयं जानता है कि उसका बिमारी संबंधी ज्ञान अधूरा है तथा कोई दूसरा उससे बेहतर विकल्प हो सकता है। फिर भी उस क्रिया को करते समय उसका विश्वास व्यवहारिक विश्वास कहा जा सकता है।

सैद्धान्तिक विश्वास वहाँ होता है, जहाँ हम अपने विश्वास की सत्यता के लिए कुछ भी दाव पर लगाने के लिए तत्पर रहते हैं। उदाहरण के लिए किसी को यह विश्वास हो सकता है कि किसी ग्रह पर मानव का अस्तित्व है। इसे सैद्धान्तिक विश्वास कह सकते हैं। जगत् की प्रयोजनता के आधार पर जब हम ईश्वर का विधान करते हैं, तो हमारा ईश्वरीय विश्वास सैद्धान्तिक विश्वास है। यह विश्वास भी विशुद्ध व्यवहारिक नहीं है। यहाँ पर हम उस सत्ता का पूर्ण कल्पनात्मक परिचय देने में असमर्थ होते हैं, यद्यपि उसके विज्ञान को अपने कर्मों के प्रदर्शक के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। धर्म—शास्त्री इस विश्वास का धर्मशास्त्र में ईश्वर के विधान के लिए उपयोग करते हैं।

लेकिन यह सैद्धान्तिक विश्वास भी स्थिर विश्वास नहीं प्रतीत होता है। कभी—कभी प्रकृति के उपद्रवों को देखते हुए हमें संशय होता है कि शायद ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। यद्यपि अंत में पुनः हम अपनी मान्यता को दृढ़तापूर्वक पकड़ने का प्रयास करते हैं।

नैतिक विश्वास ही विशुद्ध व्यवहारिक विश्वास है। निरपेक्ष नैतिक आदेश हमारे लिए या किसी भी बौद्धिक प्राणी के लिए अकाट्य नियम है। इसी से संबन्धित होकर ईश्वर और भावी जीवन का विश्वास भी प्रतिष्ठित होता है। प्रत्येक बौद्धिक प्राणी के लिए नैतिक आदेश अकाट्य होता है, अतः यह अनिवार्य रूप से ईश्वर और अमरता के विश्वास को इस प्रकार बल देता है जिसे अन्य कोई भी परिस्थिति हराने में समर्थ नहीं है। यहाँ न तो नैतिक

नियम में संशय के लिए अवकाश है, न ही ईश्वरीय विश्वास में। नैतिक नियम की निश्चितता ज्ञानात्मक है। यहाँ ईश्वरीय विश्वास और आत्मा की अमरता की निश्चितता, मननात्मक (contemplative) है, ज्ञानेतर है।

कांट निरपेक्ष नैतिक आदेश को गणितीय सत्यों की तरह अकाट्य मानते हैं। अतः जिस प्रकार गणित में धारणा के लिए कोई स्थान नहीं है, उसी प्रकार नैतिकता के क्षेत्र में भी धारणा की कोई भूमिका नहीं है। ईश्वरीय विश्वास धारणा नहीं है। कांट के अनुसार यह नहीं कहना चाहिए कि 'यह नैतिक रूप से निश्चित है कि ईश्वर आदि हैं'; अपितु यह कहना चाहिए 'मैं नैतिकतः निश्चित हूँ।' यह निश्चितता तार्किक नहीं, नैतिक है। यह विषयीनिष्ठ है लेकिन यह निरपेक्ष नैतिक आदेश से इस प्रकार संबन्धित है कि इसका त्याग असंभव है, क्योंकि जिससे इसका संबन्ध है उसका त्याग असंभव है।

कांट के अनुसार मात्र एक ही स्थिति ऐसी है जिसमें हम ईश्वर के श्रद्धा-विषयक मान्यता से दूर हो सकते हैं। ऐसी स्थिति तब होगी जब हम नैतिक सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते हैं। लेकिन वह व्यक्ति भी निश्चितता के साथ यह प्रतिपादित करने में समर्थ नहीं होगा कि ईश्वर, अमरता आदि का अस्तित्व नहीं है। अतः ऐसी स्थिति में ईश्वर से भयभीत होने के लिए उसके पास पर्याप्त कारण हैं। यह निषेधात्मक विश्वास नैतिकता और अच्छे विचारों के लिए आधार बन सकता है। कांट के अनुसार, ईश्वर में विश्वास के लिए कुछ सीमा तक नैतिक होना प्रारम्भिक शर्त है।

कांट की यह मान्यता अनेक पूर्वी और पाश्चात्य धर्माचार्यों की मान्यता के अनुकूल है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म-जिज्ञासा के पूर्व शमदमादिसाधन-संपत् की चर्चा की है। जैन और बौद्ध धर्म में भी नैतिक मान्यताओं की चर्चा है। 'नैतिकता अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वार को खोलती है'—यह मान्यता अनेक धर्मों का सार है। कांट के अनुसार यह श्रद्धा-वृत्ति को दिशा देती है।

प्रसिद्ध जर्मन कवि शिलर (1759-1805) ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की तरफ ध्यान आकर्षित किया है कि कांट ने निरपेक्ष नैतिक आदेश के माध्यम से जिस नैतिकता की चर्चा की है उसका बीज सदा से मानव के हृदय में रहा है। सभी संस्कृतियों में इस तरह के उपदेश दिखाई पड़ते हैं कि 'जो अपने लिए प्रतिकूल लगे, उसका दूसरे के लिए आचरण नहीं करना

चाहिए।' कांट ने इसे दार्शनिक शब्दावली के माध्यम से इस प्रकार उपस्थित किया है कि यह परिचित सिद्धान्त अपरिचित सा लगता है। कांट के अनुसार, कोई भी नैतिक सिद्धान्त, सभी बौद्धिक प्राणियों के लिए बाध्यकारी होना चाहिए। कांट हचेसन, हयूम आदि के सिद्धान्तों से भली-भाँति परिचित था तथा उनके दोषों को दूर करना चाहता था। अधिकांश नैतिकवादियों ने जिस प्रकार से नैतिक सिद्धान्त की व्याख्या की है, उससे यह खेल-कूद के नियमों की तरह वैकल्पिक प्रतीत होता है। कांट का 'निरपेक्ष आदेश' का सिद्धान्त वैकल्पिकता के दोष को दूर करने का एक सराहनीय प्रयास है।

III

भट्टाचार्यजी ने अपने अन्य निबन्धों में कांट के दर्शन की कुछ बिन्दुओं पर आलोचना की है। 'दर्शन की अवधारणा' नामक निबन्ध में कांट के अज्ञेयवाद की तथा एक अन्य निबन्ध में कांट के स्वलक्षण या परमार्थ की आलोचना की है। लेकिन इस पुस्तक में वे कांट के दर्शन का तात्पर्य निकालने में तल्लीन दिखाई पड़ते हैं। भट्टाचार्यजी ने पुस्तक का उपसंहार करते हुए स्पष्ट किया है कि उन्होंने विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार किया है। अर्थात् कांट क्या कहना चाहता है, उसी को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इसलिए उन्होंने कांट के अन्य व्याख्याकारों की तरह छिद्रान्वेषण का प्रयास नहीं किया है।

पुस्तक की भाषा अत्यंत कसी हुई है। पुस्तक बंगाली में है तथा इसका शब्दशः अनुवाद प्रो. मुकुन्द लाठ ने किया है। कांट की व्याख्या करते समय भट्टाचार्य जी ने अनेक ऐसे प्रश्न उठाये हैं जो कांट के पाठकों के मन में उठते हैं लेकिन वे उस पर ध्यान नहीं देते हैं। उदाहरण के लिए कांट के दर्शन में तीन विशुद्ध प्रत्यय या विज्ञान या भट्टाचार्यजी के शब्दों में काष्ठा (पकम) माने गये हैं— आत्मा, जगत् और ईश्वर। आत्मा और ईश्वर को विज्ञान के रूप में स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है। लेकिन जगत् को इस कोटि में क्यों रखा गया है? इस पर अधिकांश टीकाएँ मौन हैं। क्या बुद्धि के विकल्प परिमित विषयों पर ही घटित होते हैं या सम्पूर्ण जगत् पर? भट्टाचार्य जी ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि बुद्धि-विकल्प सम्पूर्ण जगत् पर नहीं, अपितु परिमिति परिधि वाले विषयों पर घटित होते हैं। अतः जगत् की गणना विज्ञान के रूप में की गयी है। कांट के जिज्ञासु पाठकों को अनेक ऐसे प्रश्न दिखाई पड़ सकते हैं।

कभी-कभी भट्टाचार्यजी ऐसे निष्कर्ष निकालते हुए प्रतीत होते हैं, जिससे कांट के पाठक सहमत नहीं होंगे, उदाहरण के लिए कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टाचार्यजी कांट के ईश्वर सम्बन्धी धारणा को विश्वात्मा के नजदीक लाना चाहते हैं। कांट ने संवदेनात्मक-बुद्धि की परीक्षा में स्पिनोजा के सिद्धान्त का खंडन करते हुए इस विकल्प को निरस्त किया है। कुछ व्याख्याकारों का मत है कि कांट के दर्शन में आत्मा और प्रकृति में व्याप्त एक आधारभूत तत्त्व की तरफ संकेत मिलते हैं;⁵ लेकिन कांट स्पष्ट रूप से इस संभावना से पीछा छुड़ाते हुए प्रतीत होते हैं। भट्टाचार्यजी की एक अन्य मान्यता से भी कांट के सभी पाठक सहमत नहीं हो सकते हैं। चाहिए (ought) का बोध, आत्मबोध से अभिन्न है। यह मान्यता भी कांट के पाठकों को खटक सकती है। लेकिन हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भट्टाचार्यजी की व्याख्या का उद्देश्य कांट के दर्शन के लक्ष्य को पकड़ना है। भट्टाचार्यजी ने भारतीय दर्शन की शब्दावली का भरपूर प्रयोग किया है। अतः जहाँ कांट को पढ़ते समय ऐसा लगता है कि हम 'बुद्धि-लोक' में हैं; वहीं भट्टाचार्यजी के इस ग्रंथ को पढ़ते समय ऐसा लगता है कि हम 'आत्मलोक' में हैं।

प्रो. मुकुन्दलाठ ने इस ग्रंथ का अनुवाद करते समय भट्टाचार्यजी के द्वारा प्रयुक्त शब्दों को उसी प्रकार रहने दिया है। मैंने हिन्दी में जो शब्दावली प्रचलित है उसी का प्रयोग किया है, जिससे हिन्दी के पाठकों को इस पुस्तक का रसास्वादन सरलतापूर्वक उपलब्ध हो सके। भट्टाचार्य की पुस्तक को समझने के लिए कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्षों का यहाँ पर उल्लेख किया जा रहा है —

- (1) 'वस्तु' शब्द का प्रयोग 'विषय' और 'विषयी' दोनों के लिए किया गया है। इस पुस्तक के अंग्रेजी अनुवादक ने 'वस्तु' का अनुवाद 'reality' किया है।⁶ लेकिन मैंने इस शब्द को यथावत् रहने दिया है 'object' के लिए 'विषय' तथा 'subject' के लिए 'विषयी', शब्द का प्रयोग हुआ है।
- (2) ज्ञान, क्रिया और प्रकाश दोनों रूप वाला है। काश्मीर शैवदर्शन की भाषा में वह प्रकाश और विमर्श रूप है। भट्टाचार्यजी के अनुसार, कांट इन दोनों रूपों में ज्ञान को मान्यता देता है।
- (3) ज्ञानात्मक कथन में विधेय विशेषण होता है; मननात्मक (contemplative) कथन में विशेष्य होता है। भट्टाचार्यजी ने 'contemplation' का अनुवाद 'ध्यान' किया है, मैंने 'मनन' किया है।

- (4) मननात्मक निश्चितता ज्ञानात्मक निश्चितता से न श्रेष्ठ है, न कनिष्ठ। दोनों का क्षेत्र पृथक्-पृथक् है, तथा महत्त्व समान है। रहस्यवाद में मननात्मक निश्चितता दूसरे श्रेणी की निश्चितता होती है।
- (5) मनन के भी भट्टाचार्यजी ने दो भेद किए हैं— श्रद्धात्मक मनन तथा आनन्दात्मक मनन। श्रद्धात्मक मनन में आत्मा आलम्बन होती है। आनन्दात्मक मनन में आलम्बन—कोई अन्य विषय होता है।
- (6) विभिन्न प्रकार की निश्चितताओं की परीक्षा एक प्रकार से नैतिकता का मनन है, या श्रद्धात्मक मनन है तथा श्रद्धात्मक मनन, आत्मज्ञान का विस्तार है।

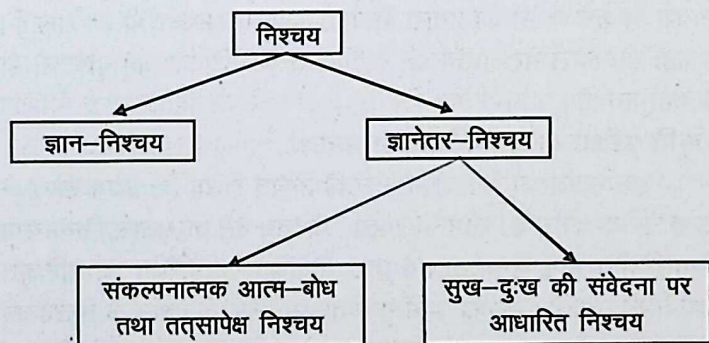
इस ग्रंथ के अर्थ को समझने में आने वाली कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण शब्दों की सूची देना आवश्यक प्रतीत होता है जिनका बहुलता से इस ग्रंथ में प्रयोग हुआ है तथा जिनके स्थान पर हिन्दी में प्रचलित शब्दावली का प्रयोग किया गया है :—

अंग्रेजी शब्द		भट्टाचार्यजी द्वारा प्रयुक्त शब्द	भूमिका में प्रयुक्त हिन्दी शब्द
1.	Will	कृति	सदिच्छा, संकल्प या पूतेच्छा
2.	Transcendental	अतिविषयक	प्रागानुभविक
3.	Judgment	अध्यवसाय	कथन या निर्णय
4.	Category	प्रकार	विकल्प या पदार्थ
5.	Schema	सूत्राकार	आकार
6.	Principle	सौत्राध्यवसाय	आनुभविक सिद्धान्त
7.	Idea	काष्ठा	विशुद्ध—प्रत्यय या विज्ञान
8.	Contemplation	ध्यान	मनन
9.	Sublime	महाभाव	महाभाव या उदात्त

इसके अतिरिक्त अन्य अप्रमुख शब्दों का प्रयोग करते समय या हिन्दी रूपान्तरण करते समय भी मैंने भट्टाचार्यजी के शब्दों की ओर संकेत दिए हैं। 'Contemplation' का प्रयोग कांट ने अपने तृतीय परीक्षा—संवेदनात्मक बुद्धि की परीक्षा या भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा में बहुलता से किया है। शुद्ध—बुद्धि की परीक्षा या व्यवहारिक बुद्धि की परीक्षा में इसका उतना प्रयोग दिखाई नहीं पड़ता है। 'Contemplation'

का उदाहरण देते समय कांट एक स्थल पर लाइबनिज का उल्लेख करता है कि किस प्रकार 'कन्टेम्प्लेशन' की अवस्था में सूक्ष्मदर्शी से एक कीड़े का परीक्षण करके, उसे पुनः उसी अवस्था में रख दिया। क्योंकि उसे ऐसा महसूस हुआ कि कीड़े ने उसे शिक्षा दी। 'कन्टेम्प्लेशन' के लिए ध्यान शब्द का प्रयोग अत्यन्त सबल प्रतीत होता है। अतः मैंने इसका अनुवाद 'मनन' किया है। इस शब्द का प्रयोग भट्टाचार्यजी ने भी अपने अंग्रेजी निबन्धों में किया है। 'कन्टेम्प्लेशन' की अवस्था में हम उपयोगितावादी दृष्टि से ऊपर उठते हैं तथा ज्ञानेतर तत्त्वों में रस लेते हैं।

कांट का दर्शन, मुख्यतः तीन परीक्षाओं के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। अतः निश्चितता की परीक्षा भी तीन प्रकार से फलित होती है। वस्तु, ज्ञात और अज्ञात दोनों स्थितियों में संभावित है। अतः व्यक्तता ज्ञातता का ही नामान्तर है। लेकिन ज्ञातता से पूर्व वस्तु अज्ञातता या अव्यक्तता की अवस्था हो सकती है। कांट ने व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार के पदार्थों के निश्चय की चर्चा की है। निश्चय के प्रकार को निम्नांकित प्रकार से दर्शाया जा सकता है :



कांट ने ज्ञान-निश्चय का विचार शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा में, संकल्पगर्भित ज्ञानेतर-निश्चय का विचार व्यवहारिक बुद्धि की परीक्षा में, तथा सुख या दुःख गर्भित ज्ञानेतर-निश्चय का विचार तृतीय परीक्षा में किया है। भट्टाचार्य जी ने अपने इस ग्रंथ में, द्वितीय निश्चय का विचार सर्वप्रथम कृतिपरीक्षा या संकल्प परीक्षा में किया है; ज्ञान निश्चय का विचार द्वितीय खंड में तथा संवेदना गर्भित ज्ञानेतर निश्चय का विचार तृतीय खंड में किया है। ग्रंथ का अंतिम खंड 'निश्चय संग्रह' निश्चयों का विवरण देता है।

इस प्रकार यह ग्रंथ चार खण्डों में विभाजित हैं — कृति परीक्षा या धर्म परीक्षा, ज्ञान परीक्षा, वेदना परीक्षा तथा निश्चय संग्रह। मैंने कृति परीक्षा और संवेदना परीक्षा में भट्टाचार्य जी के मत के विवेचन के पूर्व, इन विषयों पर कांट के दर्शन के आधार पर सामान्य परिचय देने का प्रयास किया है। अतः इन दोनों खण्डों में प्रत्येक खण्ड को दो भाग में विभाजित किया गया है। भाग 'अ' में सामान्य परिचय तथा भाग 'ब' में भट्टाचार्यजी के मत का विवेचन किया गया है। हिन्दी में, कांट के नैतिक विचार तथा सौन्दर्य सम्बन्धी विचार उतने पठन-पाठन में नहीं हैं। इसलिए उनपर अलग से कुछ कहने का प्रयास किया गया है, जिससे पाठकों को भट्टाचार्य जी के मत को समझने में सहायता मिले। शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा में प्रतिपादित विषय अधिक पठन-पाठन में हैं तथा हिन्दी में अनेक विद्वानों ने इस दिशा में कार्य किया है। प्रो. सी.डी. शर्मा, प्रो. संगम लाल पाण्डेय, प्रो. सभाजीत मिश्र आदि का प्रयास स्तुत्य है। भट्टाचार्य जी ने ज्ञान परीक्षा में जो ज्ञान का विचार किया है वह शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा में प्रतिपादित विचारों पर ही आधारित है। इसलिए इस खण्ड में मैंने अलग से कुछ नहीं कहा है। प्रसंगवश ही कुछ कहने का प्रयास किया है। अंतिम खण्ड सभी का सार है। अतः वहाँ भी केवल भट्टाचार्य जी के विचारों के परिष्कार की दृष्टि से ही कुछ कहा गया है।

(1) कृति परीक्षा या धर्म परीक्षा का भावार्थ

इस खण्ड को मैंने दो भाग में विभाजित किया है। प्रथम खण्ड में कांट के नैतिक दर्शन का सामान्य संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया गया है तथा द्वितीय भाग में भट्टाचार्य द्वारा विवेचित कृतिपरीक्षा का परिष्कृत भावार्थ दिया गया है। इस खण्ड में मुख्यतः हमने नैतिक दर्शन के महत्त्व को तथा सिद्धान्त और व्यवहार के भेद का, आदेश के प्रकारों का तथा निरपेक्ष नैतिक आदेश के विभिन्न सूत्रों का, निरपेक्ष आदेश के महत्त्व का तथा इस पर उठाये गये आक्षेपों का, कांट के द्वारा नैतिकता के क्षेत्र में की गयी कॉपरनिकस क्रांति का, जॉन राल्स (1921-2002) द्वारा सामाजिक, राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में कांट के नैतिक सिद्धान्तों को संविदावाद का आधारभूत सिद्धान्त मानने का, स्टोइकों से कांट के मत की भिन्नता का, नैतिकता की पूर्वमान्यताओं का, विशेषतः स्वतंत्रता का तथा ओपस् पोस्टयुमम् में प्रतिपादित कांट के नैतिक विचारों का विवेचन किया है।

कांट के नैतिक दर्शन पर हिन्दी में नीतिशास्त्र पर प्रचलित पुस्तकों के सभी लेखकों— प्रो. संगम लाल पाण्डेय, प्रो. बी.एन. सिंह आदि ने अपने अपने ढंग से विवेचन किया है। प्रो. संगम लाल पाण्डेय कांट के प्रति उदार दृष्टि रखते हैं। लेकिन समयानुसार दार्शनिक साहित्य के विस्तार के कारण उस विस्तृत साहित्य के आलोक में कांट के नीति दर्शन पर विचार आवश्यक प्रतीत होता है। इसी दृष्टि से हमने भाग (अ) में कांट के नैतिक दर्शन पर कुछ विचार प्रस्तुत किया है, जिससे पाठकों को भट्टाचार्य जी के मत को सम्यक् रूप से समझने में सहायता मिल सके।

भाग (अ)

कांट के दर्शन का तात्पर्य नामक ग्रंथ का प्रारम्भ, कृति परीक्षा से इसलिए किया गया है कि भट्टाचार्यजी, कांटीय दर्शन में प्रतिपादित आत्मा के स्वरूप को पकड़ना चाहते हैं। नैतिक संकल्प में हमें आत्मा की यथार्थता का निश्चय होता है तथा ज्ञानात्मक अवस्था में हमें विषय का निश्चय होता है। कांट, भट्टाचार्य जी के अनुसार, वेदान्त की तरह आत्मा को निष्क्रिय नहीं मानता है या अभेदात्मक सत् रूप नहीं मानता है। वह आत्मा की अनुभूति का भी खंडन करता है। आत्मा कांट के लिए एक सक्रिय चेतना है या सचेतन क्रिया या स्वतंत्रता है। ज्ञानात्मक और संकल्पनात्मक व्यापारों में उसका यही रूप दिखाई पड़ता है। अतिविषयक या प्रागानुभविक या ट्रान्सडेंटल का स्थूलदृष्टि से यह अर्थ किया जा सकता है कि प्रागानुभविक वह है जिसके बारे में हम निश्चित हैं कि वह विषय के कारण नहीं है। विषय (object) वह तत्त्व (content) है, जो चेतना से भिन्न है। अतः ट्रान्सडेंटल या अतिविषय —तत्त्व वह तत्त्व है, जो चेतना से भिन्न नहीं है, जो 'स्व-चेतनता' में स्व के रूप में अवस्थित है। कांट के लिए, स्वतंत्र या चेतनात्मक क्रिया के रूप में आत्मा ही अतिविषय है। जिस प्रकार तैरने की कला तैरने से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार कांट की संकल्पनात्मक आत्मा संकल्प से भिन्न नहीं है।

कांट ने शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा में अनेक स्थलों पर आत्मा के ज्ञान का निषेध किया है। आत्मा या प्रागानुभविक ज्ञाता या अतिविषयक ज्ञाता का विचार होता है, ज्ञान नहीं। ज्ञान के लिए विचार के साथ, इंद्रिय-संवेदन की भी आवश्यकता होती है। आत्मा का संवेदन नहीं होता है, अतः आत्मा का ज्ञान नहीं होता है। भट्टाचार्य जी ने इसका समाधान इस

प्रकार किया है कि व्यवहारिक क्षेत्र में ज्ञान के लिए संवेदन की आवश्यकता अनिवार्य नहीं है। व्यवहारिक निश्चितता तथा सैद्धान्तिक निश्चितता क्रमशः व्यवहारिक ज्ञान और सैद्धान्तिक ज्ञान में पृथक्-पृथक् कारणों के कारण है। शुद्ध-बुद्धि की मीमांसा के क्षेत्र में सैद्धान्तिक प्रकरण है, अतः ज्ञान के लिए इन्द्रिय-संवेदन ज्ञान की निश्चितता के लिए आधार प्रदान करता है, उसकी प्रमात्मकता का निरूपक बनता है। लेकिन व्यवहारिक क्षेत्र में या संकल्पात्मक क्षेत्र में प्रमात्मक आधार के लिए इंद्रिय संवेदन अनिवार्य घटक नहीं है। यहाँ आत्मा का स्वतंत्रता के रूप में बोध होता है।⁹ अतिविषयक या प्रागानुभविक का अर्थ ही है— सचेतन-क्रियाशील आत्मा या स्वतंत्रता। जिस प्रकार सैद्धान्तिक क्षेत्र में विषय के प्रमात्मक ज्ञान के लिए निरूपक के रूप में इंद्रिय-संवेदनों के द्वारा प्रस्तुत संवृत्तीय विषय निरूपक होते हैं, उसी प्रकार व्यवहारिक क्षेत्र में या नैतिक क्षेत्र में विचार को ज्ञान में ढालने के लिए स्वतंत्र संकल्प के माध्यम से उसकी चरितार्थता निरूपक होती है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि अनुभववादियों ने ज्ञान के दो स्रोत माने हैं— बाह्य संवेदन तथा अन्तर्वेदन। लेकिन संकल्पात्मक आत्मा का ज्ञान नहीं होता है; संकल्पात्मक आत्मा का बोध या प्रमात्मक ज्ञान संकल्पात्मक क्रिया करने से होता है।⁹

अतः कांट का यह कथन— बुद्धि-विकल्पों के बिना संवेदन अंधे हैं तथा संवेदनों के बिना बुद्धि-विकल्प शून्य है— मात्र सैद्धान्तिक प्रमात्मक ज्ञान के क्षेत्र में मान्य है।¹⁰ सैद्धान्तिक क्षेत्र में जो कार्य संवृत्तीय विषय करते हैं, वही कार्य नैतिक क्षेत्र में संकल्पात्मक क्रिया करती है। बुद्धि-आकार या विचार दोनों में समान होते हैं, लेकिन निरूपक दोनों क्षेत्रों में पृथक्-पृथक् होते हैं— सैद्धान्तिक क्षेत्र में संवृत्तीय विषय जो इंद्रिय-संवेदन के माध्यम से दिए जाते हैं तथा व्यवहारिक क्षेत्र में संकल्पात्मक क्रिया जो आत्मा से अभिन्न होती है।¹¹

उपरोक्त विचार, भट्टाचार्य जी ने कांट पर लिखे गये अपने अंग्रेजी निबन्ध में, अभिव्यक्त किया है। कांट के दर्शन का तात्पर्य, नामक ग्रंथ में इस दृष्टि में और परिष्कार किया गया है। यह परिष्कार निश्चितता के दो प्रकारों— ज्ञानात्मक निश्चितता और मननात्मक निश्चितता में भेद के कारण प्रतिफलित हुआ है। एक ही आत्मा विषय (object) और अविषय (subject) दोनों रूप से बोधित होती है। अविषयात्मक आत्मा को कर्तव्यत्वारूप

(ought) माना गया है तथा विषयात्मक आत्मा को संकल्परूप (will) माना गया है। प्रथम रूप में आत्मा का प्रमात्मक ज्ञानात्मक निश्चय होता है, तथा द्वितीय रूप में मननात्मक बोध या ध्यानात्मक बोध रूप निश्चय (contemplative certainty) होता है। भट्टाचार्य जी कहते हैं, "धर्म—स्वरूप आत्मा निश्चयेन ज्ञेय वस्तु भी है और ध्येय वस्तु भी। पर आत्म ज्ञान में आत्मा, अविषय—भाव लिए प्रतीत होती है, जबकि आत्म—ध्यान में आत्मा विषय भाव लिए प्रतीत होती है।"¹² इस विषय का विस्तार आगे किया जायेगा। इसके पूर्व इस विषय को समझने के लिए कांट के नैतिक सिद्धान्त का संक्षिप्त विवरण अपेक्षित है।

I

कांट के अनुसार हमारे जितने भी सैद्धान्तिक और व्यवहारिक बुद्धि के प्रश्न हैं, उन्हें तीन प्रश्नों में समाहित किया जा सकता है—

1. मैं क्या जान सकता हूँ ?
2. मुझे क्या करना चाहिए ?
3. मुझे क्या आशा करनी होगी ?

प्रथम प्रश्न का उत्तर कांट ने शुद्ध—बुद्धि की परीक्षा में दिया है तथा शेष दो प्रश्नों का उत्तर व्यवहारिक बुद्धि की परीक्षा में दिया गया है। परीक्षाओं का मूल उद्देश्य जड़वाद, भाग्यवाद, अनीश्वरवाद, अतार्किक स्वतंत्र चिन्तनवाद, कष्टरवाद तथा अन्धविश्वासवाद को जड़ से उखाड़ना है; क्योंकि इनका दुष्प्रभाव व्यापक है;¹³ तथा विज्ञानवाद और संदेहवाद को भी परास्त करना है। 'व्यवहार का अर्थ 'वह सब कुछ है' जो स्वतंत्रता के द्वारा है।'¹⁴ मानव बुद्धि के दो विषय हैं— प्रकृति और स्वतंत्रता; अतः बुद्धि, दो प्रकार के नियमों को प्रदान करती है— प्राकृतिक नियम तथा नैतिक नियम। प्रथम का आधार है— 'जो है (all that is)' तथा द्वितीय का आधार है— 'जिसे होना चाहिए (what ought to be)। अतः प्राकृतिक तत्त्वमीमांसा के अतिरिक्त नैतिक तत्त्वमीमांसा भी संभव है क्योंकि इसके सिद्धान्त अनुभव निरपेक्षरूप से हमारी सभी क्रियाओं को अनिवार्य बनाते हुए व्यवस्थित करते हैं।'¹⁵ मानव बुद्धि के सारभूत लक्ष्यों की ओर ले जाने वाले समस्त ज्ञान के संबन्ध के विज्ञान को दर्शन कहते हैं।'¹⁶

सारभूत लक्ष्य दो प्रकार के हो सकते हैं— चरम लक्ष्य या साध्यरूप लक्ष्य तथा उपलक्ष्य या साधनभूतलक्ष्य। प्रथम लक्ष्य को विषयित करने वाला

दर्शन, नैतिक दर्शन है। अतः प्राचीन विद्वानों ने 'दार्शनिक' का मुख्य अर्थ 'नैतिकवादी' के ही अर्थ में किया है; और आज भी हम उसे ही वास्तविक दार्शनिक कहते हैं जो कम ज्ञान रखते हुए भी बुद्धि के द्वारा स्व को संयमित रखता है।¹⁷

हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं कि व्यवहार का अर्थ कांट के अनुसार वह सब कुछ है जो संकल्प की स्वतंत्रता के कारण है। सामान्यतः जिसे हम व्यवहारिक (practical) समझते हैं, वह कांट के अनुसार सैद्धान्तिक (theoretical) क्षेत्र के विषय हैं। हमें दो प्रकार के व्यवहार में भेद करना चाहिए— तकनीकीय व्यवहार और नैतिक व्यवहार। तकनीकीय व्यवहार वास्तव में सैद्धान्तिक क्षेत्र के विषय हैं। अतः कलात्मक नियम तथा स्वसुख का वर्धन करने वाले नियम सैद्धान्तिक हैं, क्योंकि वे स्वतंत्रता पर अवलम्बित न होकर कारण-कार्य के उपाय से संचालित होते हैं; इन्हें सैद्धान्तिक वैज्ञानिक ज्ञान से व्यवस्थित किया जा सकता है। अतः किसी घर को किस प्रकार सजाना चाहिए, क्या भोजन लेना चाहिए, सुखी रहने के लिए कैसे अपनी रुचियों पर अंकुश लगाना चाहिए आदि विषय सैद्धान्तिक क्षेत्र में आते हैं।¹⁸ केवल स्वतंत्रता में उत्स रखने वाले नैतिक नियम ही व्यवहारिक हैं। यद्यपि सैद्धान्तिक बुद्धि और व्यवहारिक बुद्धि के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं, फिर भी व्यवहारिक बुद्धि को शुद्ध-बुद्धि के क्षेत्र में किसी अर्थ में घुस-पैठ का अधिकार है, क्योंकि स्वतंत्र संकल्प की अभिव्यक्तिरूप हमारे कर्म का क्षेत्र इन्द्रिय जगत् होता है। अतः इस जगत् का प्राकृतिक विधान स्वतंत्रता के विधान के साथ संगतिपूर्ण प्रतीत होता है।¹⁹

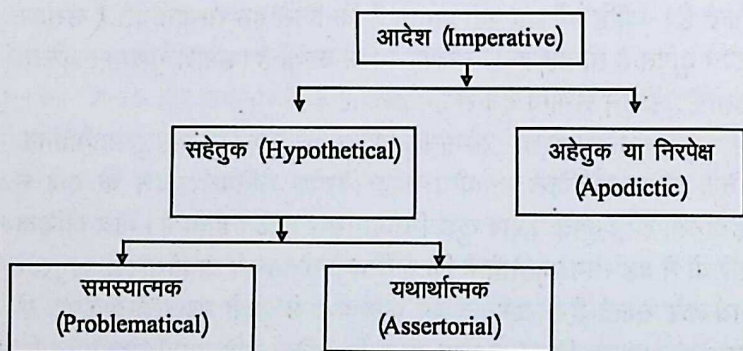
कांट के दर्शन में सार्वभौम नैतिक नियम (moral law) के सम्मान को वही महत्त्व दिया गया है, जो बौद्ध-धर्म में 'धम्मं शरणं गच्छामि' को दिया गया है। इस सम्मान (respect for the moral law) के अभाव में हमारे कर्म बाह्य दृष्टि से नैतिक होते हैं, लेकिन आंतरिक दृष्टि से दूषित होते हैं। अतः कर्तव्य, कांट के अनुसार, कर्म की अनिवार्यता है जो सार्वभौम नैतिक नियम के सम्मान से उद्भूत है। जिस प्रकार कांट ने इस तत्त्व पर बल दिया है, उसी प्रकार भट्टाचार्य जी ने इसका सूक्ष्म विश्लेषण किया है। अंतर मात्र इतना है कि कांट के ग्रंथों में बुद्धि और उसके समानार्थक पर्यायों का अनेक स्थलों पर साक्षात्कार होता है, जबकि भट्टाचार्यजी के विवेचन में आत्मा और उसके पर्यायों की बहुलता को लिए हुए भारतीय दर्शन की शब्दावली की

सुगंध वर्तमान है। सम्मान का अधिकारी व्यक्ति होता है, पदार्थ नहीं। पदार्थों के प्रति राग हो सकता है। हमारा प्रेम किसी पालतू पशु के प्रति हो सकता है, लेकिन पदार्थ और पालतू पशु सम्मान के अधिकारी नहीं होते हैं। हम किसी विषय का गुण-गान कर सकते हैं; किसी व्यक्ति में अनुराग रखते हुए सम्मान दिये बिना गुणगान कर सकते हैं; हमारा 'मस्तक' उसके आगे झुक सकता है, लेकिन 'मन' नहीं। इसके विपरीत, किसी सामान्य व्यक्ति में नैतिकता का बल देखते ही हमारा मन हमारी इच्छा के विपरीत उसके आगे झुक जाता है, यद्यपि हम अपने हाव-भाव से ऐसा प्रदर्शित करते हैं कि हम उससे बहुत ऊपर हैं? ऐसा इसलिए होता है कि हम उसके चरित्र में नैतिक विधान को चरितार्थ होते हुए देखते हैं जो हमारे दम्भ (self-conceit) को झकझोरता है। शिक्षा, दीक्षा आदि के द्वारा हम व्यक्ति का गुण-गान कर सकते हैं। ज्योंहि हमें यह पता लगता है कि जिसे हम सम्मान देते हैं उसका चरित्र दूषित है तो वह हमारे नजरों से गिर जाता है। हमारा गुणगान चलता रहता है, लेकिन सम्मान देने से हम कतराते हैं।²⁰

कांट के अनुसार सम्मान प्रदर्शित करने का मुख्य हेतु सार्वभौमिक नैतिक नियम है जिसे मानवीय बुद्धि निरपेक्ष नैतिक आदेश के रूप में पहचानती है। प्रकृति में सब कुछ नियमानुसार घटित होता है। मात्र बौद्धिक प्राणियों में वह सामर्थ्य होती है कि वे नियमों के प्रत्यय या विचार के अनुसार कार्य कर सकते हैं।²¹ अमरुद का फल पेड़ से पृथ्वी पर गुरुत्वाकर्षण के नियम के अनुसार गिरने के लिए बाध्य है; लेकिन यदि मानव किसी पेड़ पर बैठा है, तो बैठा भी रह सकता है तथा उतर भी सकता है। इस प्रकार का वैकल्पिक विचार यह प्रदर्शित करता है कि हम संकल्पवान् प्राणी हैं। विचारपूर्वक कर्म में प्रवृत्ति, बुद्धि का लक्षण है; इसलिए संकल्प वास्तव में व्यवहारिक बुद्धि है। किसी विषयनिष्ठ सिद्धान्त का वह प्रत्यय जो संकल्प के लिए आवश्यक है, बुद्धि की आज्ञा (command) है और इस आज्ञा का सूत्रीकरण आदेश है। पैटन का कहना है कि कांट ने इस भेद का कोई उपयोग नहीं किया है; इसलिए इस भेद का कोई महत्त्व नहीं है। व्यवहारिक सिद्धान्त से तात्पर्य अनेक व्यवहारिक नियमों (practical rules) से है, जिनसे संकल्प का सामान्यतः निश्चय किया जा सकता है। वे नियम (maxims) वैयक्तिक होते हैं, जिन्हें कर्त्ता मात्र स्व संकल्प के लिए प्रामाणिक मानता है; तथा विषयनिष्ठ सार्वभौम नियम (objective or practical laws)

वे होते हैं जो प्रत्येक बौद्धिक प्राणी के संकल्प के लिए प्रामाणिक होते हैं। सभी आदेशों की अभिव्यक्ति 'चाहिए (ought)' शब्द से होती है। दैवीय संकल्प में ये आदेश वर्णनात्मक—सार्वभौम नियम होते हैं। मानव संकल्प के संदर्भ में ये आदेशात्मक रूप ग्रहण करते हैं, क्योंकि हमारी संकल्पन की शक्ति हमारी अपूर्णता से प्रभावित होती है।²²

आदेशों का वर्गीकरण मुख्यतः दो वर्गों में किया जा सकता है—सहेतुक आदेश (hypothetical imperatives) तथा अहेतुक आदेश या निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative)। प्रथम आदेश वहाँ होता है जहाँ हम कर्म को इसलिए शुभ कहते हैं कि वह हमें स्वचयनित लक्ष्य को प्राप्त करता है; निरपेक्ष आदेश में कर्म लक्ष्यनिरपेक्ष रूप से शुभ होता है। विभिन्न आदेशों का वर्गीकरण निम्नांकित रूप से किया जा सकता है —



समस्यात्मक आदेश में लक्ष्य संभावित रहता है। माता-पिता अपने बच्चों को अनेक प्रकार की शिक्षा देते हैं। वे उसे चिकित्सा विज्ञान की भी शिक्षा देते हैं तथा कलात्मक शिक्षा भी देते हैं, क्योंकि लक्ष्य संभावित रहता है। उनका पुत्र चिकित्सक भी बन सकता है या कलात्मक विद्या में अध्यापक भी हो सकता है। यथार्थात्मक वहाँ होता है जहाँ लक्ष्य निश्चित हो सकता है, जहाँ लक्ष्य निश्चित रूप से संज्ञात रहता है। वह सहेतुक आदेश जिसमें हम अपने सुख को बढ़ाने के लिए कर्म का चयन करते हैं, यथार्थात्मक कहे जाते हैं। कोई मनुष्य यदि स्वसुख को बढ़ाने के लिए साधन कर्म को चयन करने में कुशलता दिखाता है, तो उसे चतुर (prudent) कहते हैं। अहेतुक आदेश सार्वभौम—विषयनिष्ठ—अनिवार्यता गर्भित होता है तथा अपने मन के विपरीत भी उसे मानना पड़ता है। तीनों प्रकार के आदेशों में स्पष्ट भेद करने के लिए

समस्यात्मक आदेश को कुशलता के नियम के रूप में, यथार्थात्मक आदेश को चतुरता के उपदेश के रूप में तथा अहेतुक आदेश को नैतिकता के सार्वभौम नियम के रूप में लिया जा सकता है। प्रथम प्रकार के आदेश तकनीक से सम्बन्धित हैं, दूसरे प्रकार के आदेश व्यवहार (pragmatic) से सम्बन्धित हैं तथा तृतीय प्रकार के आदेश नैतिकता से सम्बन्धित हैं।²³

समस्यात्मक आदेश और चतुरता के आदेश में मात्र इतना भेद है कि प्रथम में लक्ष्य संभावित रहता है तथा द्वितीय में लक्ष्य दिया गया रहता है, लेकिन दोनों में इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कर्म का चयन किया जाता है। इसलिए दोनों प्रकार के आदेश विश्लेषणात्मक हैं, क्योंकि लक्ष्य इच्छित है। इसके विपरीत निरपेक्ष आदेश एक अनुभव निरपेक्ष संश्लेषणात्मक व्यवहारिक कथन है (an a priori synthetical practical proposition) है।²⁴ यह अनुभवनिरपेक्ष है, क्योंकि अनुभव के माध्यम से अमूर्तिकरण के द्वारा इसे नहीं बनाया गया है। संश्लेषणात्मक है, क्योंकि यह लक्ष्य निरपेक्ष है।

नैतिकता का निरपेक्ष आदेश कर्ता से यह अपेक्षा करता है कि उसका वैयक्तिक या आत्मनिष्ठ सिद्धान्त (maxim) अवश्य ही निरपेक्ष नैतिक आदेश के अनुकूल होगा। कांट ने नैतिकता की तत्त्वमीमांसा के मूल सिद्धान्त में निरपेक्ष आदेश को निम्नांकित रूप से सूत्रित किया है। पैटन ने अपनी पुस्तक निरपेक्ष आदेश में इसे जिस प्रकार प्रस्तुत किया है,²⁵ उसी प्रकार से यहाँ उसका वर्णन किया जा रहा है :-

1. प्रथम सूत्र : सार्वभौम विधान का सूत्र (Formula of Universal Law) :-

तुम केवल उसी नियम के आधार पर कर्म करो जिसके माध्यम से तुम उसी समय इच्छा कर सको कि वह एक सार्वभौम विधान हो (Act only on that maxim whereby thou canst at the same time will that it should become a universal law)।

1. (a) प्रकृति-विधान का सूत्र (Formula of the Law of Nature):-

इस प्रकार कर्म करो मानों तुम्हारे कर्म का नियम तुम्हारी इच्छा के माध्यम से प्रकृति का एक सार्वभौम विधान होने वाला हो (Act as if the maxim of thy action were to become by thy will a universal law of nature)।

2. द्वितीय सूत्र: स्वयं साध्य का सूत्र (Formula of the End in itself)।

अतः इस प्रकार कर्म करो कि मनुष्यता का व्यवहारिक उपयोग, चाहे तुम्हारे मानवीय-रूप²⁶ में या किसी अन्य के रूप में, प्रत्येक उदाहरण में, साध्य के रूप में हो, कभी मात्र साधन के रूप में नहीं (So act as to treat humanity, whether in thine own person or in that of any other, in every case as an end, never as means only)।

3. तृतीय सूत्र: स्वतंत्रता का सूत्र (The Formula of Autonomy)

अतः इस प्रकार कर्म करो कि तुम्हारी इच्छा उसी समय अपने को अपने नियम के माध्यम से अपने को सार्वभौम विधान बनाने वाली समझ सके (so act that your will can regard itself at the same time as making universal law through its maxim)।

3 (a) साध्यों के राज्य का सूत्र (The Formula of the Kingdom Ends)

अतः इस प्रकार कर्म करो कि मानों तुम सदा अपने नियम के माध्यम से साध्यों के एक सार्वभौम राज्य के विधायक सदस्य हो (so act as if you were always through your maxim a law making member in a universal kingdom of ends).

पैटन के अनुसार प्रथम सूत्र और तृतीय सूत्र में भेद इतना नगण्य है कि इस पर ध्यान देने की उतनी आवश्यकता नहीं है। व्यवहारिक बुद्धि की परीक्षा में कांट ने तृतीय सूत्र को स्थान दिया है। सूत्र 1, 2 तथा 3 को, इनके सहायक सूत्रों के रूप में ले सकते हैं, क्योंकि व्यवहारिक उपयोग में इनसे सहायता मिलती है। प्रथम सूत्र नैसर्गिक रूप से अनुभूति मात्र के अनुकूल है। कांट का कहना है कि निरपेक्ष नैतिक आदेश एक है। तीन प्रकार से सूत्रीकरण, आत्मनिष्ठ रूप से किसी पहलू को अधिक स्पष्ट करना है; वस्तुनिष्ठ दृष्टि से उनमें एकता है। प्रो. संगमलाल पाण्डेय ने अपने ग्रंथ नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण में इन सूत्रों का भगवद्गीता के सिद्धान्तों से तुलना करते हुए अच्छा विवेचन किया है।

कांट के निरपेक्ष नैतिक आदेश की निम्नांकित विशेषताएँ ध्यातव्य हैं —

1. यह एक अनुभव निरपेक्ष व्यवहारिक कथन है।²⁷
2. यह पूतेच्छा या दैवीय इच्छा के लिए वर्णनात्मक सार्वभौम नियम है, क्योंकि पूतेच्छा, विशुद्ध शुभ संकल्परूप वाली होती है। जहाँ इच्छा पूर्णतः शुभता के न होने के कारण अपूर्ण होती है, वहाँ नैतिक निरपेक्ष सार्वभौम नियम आदेश के रूप में प्रगट होता है। मानवीय इच्छा के लिए इसी कारण यह एक आदेशात्मक सार्वभौम नियम है।²⁸
3. निरपेक्ष नैतिक आदेश की सार्वभौमिकता या अनिवार्यता आकार के कारण है, विषय (content) के कारण नहीं।²⁹
4. सार्वभौम नैतिक निरपेक्ष आदेश का ज्ञान ही नैतिक कर्म का अभिप्रेरक होता है; जब हमारे कर्म इस अभिप्रेरक से संचालित होते हैं तभी वे नैतिक कर्म होते हैं।³⁰

कांट के आलोचकों ने कांट के नैतिक सिद्धान्त पर मुख्य आक्षेप यह लगाया है कि यह एक आकारिक सिद्धान्त है तथा व्यवहार से इसका ताल-मेल नहीं है। यह आक्षेप अज्ञान के कारण प्रतीत होता है। कांट ने नैतिकता की तत्त्वमीमांसा के मूल सिद्धान्त में इसकी व्यवहारिकता को दिखाने के लिए चार उदाहरण दिए हैं। यहाँ मात्र तृतीय उदाहरण का ही उल्लेख, व्यवहारिकता को स्पष्ट करने के लिए दिया जा रहा है। किसी मनुष्य में प्रतिभा है जिसको शिक्षा के माध्यम से विकसित करके वह अनेक प्रकार से उपयोगी बन सकता है। लेकिन उस मनुष्य के पास पर्याप्त सुख सुविधा है जिसका उपभोग करते हुए जीवन काट सकता है। ऐसी स्थिति में जब कर्तव्य कर्म का प्रश्न उपस्थित होगा तो बौद्धिक प्राणी होने के आधार पर सार्वभौम विधान का सूत्र उसे प्रथम विकल्प को चयन करने के लिए अभिप्रेरित करेगा।

कांट के द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त किसी न किसी रूप में सभी प्रधान संस्कृतियों में पाया जाता है। प्रथम शताब्दी में हिलेल नाम के महान संत यहूदी धर्म में हुए हैं। उनसे किसी ने सम्पूर्ण तोराह पढ़ाने का आग्रह किया। उसके उत्तर में उन्होंने कहा कि 'जो तुम्हारे लिए घृणास्पद हो वह अपने पड़ोसी के लिए न करो।' यही तोराह है। शेष 'उस पर टीका' है।³¹ भारतीय परम्परा में भी 'धर्म सर्वस्व' के रूप में इस सिद्धान्त का इस प्रकार वर्णन किया गया है कि जो अपने लिए प्रतिकूल हो, उसका दूसरे के लिए आचरण नहीं करना चाहिए (आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्)। कांट

ने इसी अभिप्राय को निरपेक्ष आदेश के सूत्र से इस प्रकार सूत्रित किया है कि उसका सूत्रीकरण निर्दोष हो तथा बुद्धि के आदेश के रूप में अभिव्यक्त हो। कांट अरस्तू के इस विचार को स्वीकार करता है कि हम अपने अधिकांश नैतिक आचरण मुख्यतः दूसरे के आचरणों से या महान पुरुषों के आचरणों के माध्यम से ग्रहण करते हैं। नैतिक शिक्षण के लिए उदाहरण सहायक हो सकते हैं; लेकिन विशुद्ध नैतिक आचरण के लिए नैतिकता के निरपेक्ष आदेश को संज्ञान में लेना आवश्यक है। यह नियम स्वतंत्रता के साथ-साथ अवैयक्तिकता और सामाजिक आदर्श को भी महत्त्व देता है। इसका सार है— (1) अपने लिए चिन्तन करो; (2) अन्य सभी की दृष्टि से चिन्तन करो; तथा (3) संगतिपूर्ण चिन्तन करो।³² इस प्रकार से विचार करने की प्रक्रिया वास्तव में स्वतंत्रता के विधान को निरपेक्ष नैतिक आदेश के माध्यम से चरितार्थ करने की प्रक्रिया है। जिस प्रकार सुकरात ने मेनो में यह दिखाया है कि समस्त ज्ञान पुनर्स्मरण है, अतः हम अत्यंत मूर्ख गुलाम को भी नया ज्ञान नहीं प्रदान करते हैं, अपितु उसके अन्दर पहले से ही वर्तमान ज्ञान को अभिव्यक्त करने में सहायक होते हैं; उसी प्रकार कांट मानता है कि नैतिकता के सिद्धान्त के ज्ञान के लिए शिक्षित होना आवश्यक नहीं है। अत्यन्त विपरीत सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों में भी प्रत्येक मानव में इसकी ज्योति रहती है। अतः वह अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है।³³ कांट, नैतिकता के सूत्र की सरलता के ऊपर स्वयं आश्चर्य व्यक्त करता है तथा अपने ग्रंथों में अनेक बार इसके सरल स्वाभाविक रूप का उल्लेख करता है; 'उसी नियम के आधार पर आचरण करो जो सार्वभौम विधान भी बन जाय (Act upon a maxim that can also hold as a universal law)।' वह नैतिकता की तत्त्व मीमांसा में कहता है; "The simplicity of this law in comparison with the great and various consequences that can be drawn from it are astonishing at first, as much also its authority to command without appearing to carry any incentive with it."

कांट ने सार्वभौम विधान के नियम (प्रथम सूत्र) के विषय में कहा है कि इसे प्रकृति-विधान का सूत्र भी माना जा सकता है। चूंकि, सार्वभौम नियम जो कार्य या कर्म के उत्पादन को नियंत्रित करते हैं, वास्तव में, व्यापक अर्थ में प्रकृति कहलाते हैं, अतः सार्वभौम-विधान के सूत्र को भी प्रकृति-विधान के सूत्र में लिया जा सकता है। पैटन ने इसकी व्याख्या

करते हुये कहा है कि प्रकृति को दो अर्थों में लिया जा सकता है—द्रव्य (matter) अर्थ में तथा आकार (form) के अर्थ में। व्यवहार में हम 'मानव-प्रकृति' या 'जगत् की प्रकृति' का प्रयोग करते हैं, तो द्वितीय अर्थ का ही ग्रहण करते हैं।

सर्वभौम नैतिक नियम, एक अनुभव निरपेक्ष संश्लेषणात्मक नियम है। इस नियम के आधार पर या कर्म का अर्थ है कि सार्वभौम नियम के आधार पर जगत् में किसी कर्म-व्यापार को जन्म देना। उदाहरण के लिए यदि हमने कर्ज लिया है, तथा सार्वभौम नियम का विचार कर हम उसके कर्ज को लौटाते हैं, तो हम एक कार्य-व्यापार को जन्म देते हैं। अतः 'प्रकृति' से तात्पर्य यहाँ मूलतः कर्म को नियंत्रित करने वाले अनुभव निरपेक्ष नैतिक नियम से है। द्वितीयतः, इसके अनुसार कार्मिक व्यापार को भी प्रकृति-विधान के रूप में लिया जा सकता है।

भट्टाचार्य जी के अनुसार यहाँ दो प्रकार के कार्य जन्म लेते हैं प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक। प्राकृतिक कार्य कर्ज लौटाना है। अप्राकृतिक कार्य आत्मा की पुण्य-प्राप्ति अवस्था से संबन्धित है। इसी के अनुपात में सुखोपलब्धि ईश्वर के निमित्त से होगी।

जॉन राल्स ने इसकी सामाजिक व्याख्या की है। उन्होंने कांट के कर्तव्यवाद को न केवल कर्तव्यवाद के रूप में लिया है, अपितु अविनिर्माणवाद (constructivism) के रूप में लिया है। ध्वंसवाद (deconstructivism) के लिए हिन्दी में विनिर्माणवाद का प्रयोग होता है, अतः निर्माणवाद के लिए अविनिर्माणवाद का प्रयोग उचित होगा।

राल्स के अविनिर्माणवाद के समझने के लिए, उनके द्वारा प्रतिपादित निरपेक्ष नैतिक आदेश की प्रक्रिया (categorical Imperative procedure) को समझना आवश्यक है, जिसे संक्षेप में वे, सी.आई. (CI) प्रक्रिया कहते हैं। इस प्रक्रिया के चार चरण हैं।³⁴ प्रथम चरण में हम प्रतिबद्ध नैतिक कर्त्ता के रूप में वैयक्तिक सूत्र का चयन करते हैं।

द्वितीय चरण में, हम निरपेक्ष नैतिक आदेश के सार्वभौम नियम के अनुसार उसको परखते हैं। हम सामान्यीकरण की प्रक्रिया से यह निश्चय करना चाहते हैं कि इस कर्म का सम्पादन सभी बौद्धिक-प्राणियों कि दृष्टि से सही होगा। तृतीय चरण में, हम सार्वभौम आदेश को प्रकृति के नियम के रूप में लेते हैं। हम नियम को अपने ऊपर अन्य के द्वारा आरोपित न

मानकर, मानव की बौद्धिक प्रकृति और प्रवृत्ति का सहज व्यवसाय मानते हैं। चतुर्थ चरण महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार प्रकृति-विधान के अनुसार कर्म करके हम पहले से वर्तमान प्रकृति-विधान के क्षेत्र से इसे संयुक्त करते हैं। ऐसा करते समय हम यह विचार करते हैं कि पूर्वतः वर्तमान प्रकृति विधानात्मक क्षेत्र की साम्यावस्था को हम भंग तो नहीं कर रहे हैं। इस नयी प्रकृति की व्यवस्था को हम समायोजित सामाजिक जगत् (adjusted social world) कह सकते हैं। यह सामाजिक जगत् कर्त्ता के वैयक्तिक सूत्र से संबन्धित होकर प्रथम चरण में भी उपस्थित था। कर्त्ता से सर्वभौम निरपेक्ष आदेश का नियम, इस जगत् के विधानात्मक सदस्य के रूप में उत्तरदायित्व लेने के लिए अभिप्रेरित करता है। इस बाध्यता का फल चतुर्थ चरण के रूप घटित होता है।

अतः जॉन राल्स के अनुसार निरपेक्ष आदेश को इस प्रकार रखा जा सकता है : हमें अपने बौद्धिक और प्रतिबद्धात्मक सूत्र के अनुसार कर्म करने की प्रथम चरण में छूट है, यदि हम निम्नांकित दो शर्तों को पूरा करते हैं : पहली शर्त यह है कि हमें प्रतिबद्ध और बौद्धिक कर्त्ता के रूप में उस सूत्र के अनुसार अवश्य ही इच्छा करना चाहिए जिसके माध्यम से हम समायोजित सामाजिक जगत् के सदस्य हो सकें, तथा इसके अन्दर कर्म करते हुए इसकी शर्तों से बाध्य हों, तथा द्वितीय, हमें अवश्य ही इस समायोजित जगत् की इच्छा करनी चाहिए तथा अपनी सदस्यता पर बल देना चाहिए।

इस प्रकार निरपेक्ष आदेश, सी आई-प्रक्रिया के माध्यम से अभिव्यक्त होता है, तथा हमारी इच्छाओं और आवश्यकताओं की अनुकूलता के परिणाम की अपेक्षा न करते हुए हमें निरपेक्षतः कर्म करने के लिए अभिप्रेरित करता है। अतः निरपेक्ष आदेश, अनुभवात्मक व्यवहारिक बुद्धि कि अपेक्षा, शुद्ध व्यवहारिक बुद्धि को प्राथमिकता देता है।

जॉन राल्स के अनुसार कांट के नैतिक सिद्धान्त में अविनिर्माणवादी या निर्माणवादी तत्त्व हैं। प्रश्न है कि वह निर्मित तत्त्व क्या हैं जिस के आधार पर इसकी इस प्रकार से संज्ञा दी जाती है? जॉन राल्स के अनुसार यह तत्त्व सिद्धान्त का विषय (the content of the doctrine) है।³⁵ सी. आई-प्रक्रिया में प्रतिबद्धकर्त्ता अपने वैयक्तिक सूत्र का चयन करता है। निर्माणांश, द्वितीय चरण में अभिव्यक्त होता है, जहाँ हम वैयक्तिक सूत्र को

सार्वभौम आदेश से परखने की प्रक्रिया में एक ऐसे सार्वभौम वस्तुनिष्ठ सूत्र के आधार पर आचरण करने का संकल्प करते हैं, जो किसी भी बौद्धिक प्राणी की दृष्टि से संगतिपूर्ण होता है। यही निर्माणवाद है।

यहाँ, हम वैयक्तिक सूत्र को सार्वभौम नियम के साँचे के प्रयोग से शुद्ध करते हुए या परिमार्जित करते हुए किसी भी बौद्धिक प्राणी की दृष्टि से कर्म को संगतिपूर्ण अवस्था में लेते हैं। प्रथम चरण में, वैयक्तिक सूत्र के माध्यम से संकल्पित कर्म, उस जूते के समान हो सकता है जो संकल्प करने वाले के पैर के अनुरूप होता है, लेकिन दूसरे के पैर में गड़ सकता है या छोटा या बड़ा हो सकता है। द्वितीय चरण में, सार्वभौम नियम के साँचे के प्रयोग से शुद्ध संकल्पित कर्म की तुलना उस जूते से की जा सकती जो किसी भी बौद्धिक प्राणी के पैर के अनुरूप होता है। कर्म मात्र वैयक्तिक संकल्प की अभिव्यक्ति न बनकर सार्वभौमिक संकल्प की अभिव्यक्ति का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। इसी को निर्माणवाद कहा जाता है।

जॉन राल्स यह स्वीकार करते हैं कि इस निर्मित तत्त्व को पुरी तरह रेखांकित नहीं किया जा सकता है। नैतिक नियम, बुद्धि का विज्ञान (idea of reason) है, अतः व्यवहार में पूरी तरह कभी भी इसकी अभिव्यक्ति संभव नहीं है। इसमें त्रुटि और संशोधन की संभावना सर्वदा वर्तमान रहती है क्योंकि हमारा लक्ष्य सर्वदा इस नैतिक नियम के समीप उपस्थित रहना होता है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे किसी बिन्दु को अंकित करने के लिए, बिन्दु के विज्ञान को ध्यान में रखना होता है।

जब भी निर्माण कि चर्चा कि जाती है तो ऐसे तत्त्वों को भी स्वीकार किया जाता है जो निर्माण के आधार बनते हैं या उपादान बनते हैं। सी आई-प्रक्रिया एक निर्मित प्रक्रिया नहीं है, यह स्वतंत्र, समान, युक्तियुक्त नैतिक तथा बौद्धिक मानव के प्रत्यय को प्रतिबिम्बित करती है।¹⁰ अतः इस प्रकार ये प्रत्यय तथा इस प्रकार के मानवों के समाज का प्रत्यय, जो साध्यों के राज्य के विधायक सदस्य हो सकते हैं कांट के निर्माणवाद के उपादानात्मक तत्त्व हैं।

जॉन राल्स यह स्वीकार करते हैं कि अविनिर्माणवादी तत्त्व कांट के अतिविषयक दर्शन (transcendental idealism) के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। भट्टाचार्य जी ने निर्माणवाद को व्यापक अर्थ में लिया है। कांट के अनेक व्याख्याकार यह मानते हैं कि चेतना का मुख्य कार्य, कांट के अनुसार,

प्रकाशन न होकर व्याख्या करता है। भट्टाचार्य जी ने कांट के दर्शन में चेतना को क्रिया और प्रकाश दोनों रूपों में ग्रहण किया है। क्रिया के रूप में चेतना निर्माणक है। इसका विशेष विवेचन 'ज्ञान' परीक्षा' पर विचार करते समय किया जायेगा। नैतिक दृष्टि से, मात्र इतना कहना पर्याप्त होगा कि अतिविषयक का अर्थ, भट्टाचार्य जी के अनुसार, सचेतन क्रियाशील आत्मा या स्वतंत्रता है। संकल्प या स्वतंत्र कारणता का अर्थ है कि कारण—कार्य से व्याप्त जगत् में स्वतंत्र कारणता के अनुसार परिवर्तन को सोचना या अपेक्षा करना। हमारी यह अपेक्षा किसी न किसी अंश में इस जगत् में पूर्ण होती है।³⁷ इस प्रकार कारण—कार्य से व्याप्त जगत् में व्यवहारिक बुद्धि स्वतंत्र—कारणता के माध्यम से घुसपैठ करती है तथा इस अर्थ में यह कारणता निर्माणक तत्त्व को लिए हुए है।

II

कांट ने नैतिकता की तत्त्वमीमांसा के मूल सिद्धान्त में आत्म—प्रेम के कारण किये जाने वाले कर्मों को नैतिक आदेश से संचालित कर्मों से भिन्न माना है। ईसाई धर्म में चतुरता या दक्षता (prudence) को एक मानवीय सदगुण के रूप में स्थान दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कांट का नैतिकता सिद्धान्त अत्यंत संकुचित है, क्योंकि उसके दर्शन में इन मूल्यों का स्थान नहीं है। लेकिन कांट के मत को ठीक से समझने के लिए उसके अन्य ग्रंथों की तरफ भी ध्यान देना आवश्यक है। हमने उल्लेख किया है कि किस प्रकार भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा में व्यवहारिक उपदेशों के महत्त्व को कांट ने सैद्धान्तिक क्षेत्र का विषय माना है, क्योंकि यहाँ हम कारण—कार्य भाव के माध्यम से व्यवस्था करने का प्रयास करते हैं। कांट के मत को ठीक से समझने के लिए स्वतंत्रता और कारण—कार्य भाव के क्षेत्र को पृथक्—पृथक् करना आवश्यक है। जिसे हम चतुरता का सदगुण कहते हैं, कांट के अनुसार वह तकनीकीय व्यवहार (technically practical) का उदाहरण है। हमें नैतिक दृष्टि से व्यवहार (morally practical) तथा तकनीकीय व्यवहार में भेद करना चाहिए। जॉन राल्स ने इस तथ्य पर बल दिया है कि अंग्रेजी में उपलब्ध साहित्य भी नैतिकता पर कांट के मत का विवेचन करते समय उसके अन्य ग्रंथों को देखने का प्रयास नहीं करते हैं; तथा मात्र नैतिकता की तत्त्व मीमांसा के मूल सिद्धान्त तथा व्यवहारिक बुद्धि की मीमांसा के आधार पर ही कांट के मत का विवेचन करने का

प्रयास करते हैं। कांट के मत को ठीक से समझने के लिए उसके अन्य ग्रंथों पर भी निगाह रखना आवश्यक है।³⁸ ऊपर हमने दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार जिन प्रश्नों को उपयोगितावादी नैतिक प्रश्न बनाते हैं, कांट उन्हें सैद्धान्तिक बुद्धि की समस्या मानता है। यह विचार उसने स्पष्ट रूप से भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा में अभिव्यक्त किया है।

प्रो. नित्यानन्द मिश्र ने, नीतिशास्त्र (सिद्धान्त और प्रयोग) नामक ग्रंथ में कांट के दर्शन पर फ्रेंकेना के उदाहरण का उल्लेख करते हुए कुछ आलोचना की है।³⁹ 'अँधेरे में अकेला रहने पर सीटी बजाना चाहिए', क्या इसे नैतिक कर्तव्य माना जा सकता है? स्पष्ट है इसका उत्तर नकारात्मक होगा। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि सामान्यीकरण पर आधारित यह सिद्धान्त कोई वस्तुपरक कार्य निर्देश नहीं दे सकता है।

सीटी बजाने का कर्म कर्तव्य कर्म है कि नहीं इसका उत्तर देने के लिए इस प्रश्न को भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि यदि यह केवल आनन्द या लीला बुद्धि से किया गया प्रश्न है तो इसका उत्तर देने के लिए, जैसा कि भट्टाचार्यजी ने कहा है, नैतिक सिद्धान्त को लाने की अपेक्षा नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए कर्त्ता को निर्धारित करना होगा कि यह प्रश्न किस परिस्थितिबश उठाया जा रहा है। कल्पना करें कि कोई घर में बिमार है, जिसके मेरे सीटी बजाने से जान जाने का संकट है। ऐसी स्थिति में यह नैतिक प्रश्न हो सकता है। इसी प्रकार यदि चिकित्सक ने हमें परामर्श दिया है कि उच्च स्वर से न चिल्लाएँ, तो यह प्रश्न कांट के अनुसार तकनीकीय ढंग से व्यवहारिक प्रश्न है। यहाँ हम उसकी सलाह को मान भी सकते हैं, तथा यदि यह मानते हैं कि उसका ज्ञान अधूरा है तो उसकी सलाह नहीं भी मान सकते हैं। अतः प्रश्नकर्त्ता प्रश्न को किस रूप में उठाता है— इस निश्चय के बिना इस प्रश्न का नैतिक दृष्टि से विचार करना उचित प्रतीत नहीं होता है। एक ही प्रश्न किसी परिस्थिति विशेष में नैतिक प्रश्न होता है। एक ही प्रश्न किसी परिस्थिति विशेष में नैतिक दृष्टि से उदासीन प्रश्न हो सकता है या तकनीकीय व्यवहारिक प्रश्न हो सकता है। कांट ने नैतिकता की तत्त्वमीमांसा के मूल सिद्धान्त नामक ग्रंथ में जिन प्रश्नों को सहेतुक आदेश के अन्तर्गत रखा था, उन सभी प्रश्नों को भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा में सैद्धान्तिक क्षेत्र में रखा है। यह ठीक भी प्रतीत होता है क्योंकि घर को किस प्रकार सजाया जाय? वर्तमान परिस्थिति में अपने बच्चे को कैसी

दक्षता चाहिए? अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने के लिए किस संसाधन का चयन करना चाहिए आदि प्रश्नों का उत्तर बिना वैज्ञानिक ज्ञान के देना संगतिपूर्ण नहीं होगा।⁴⁰ अतः इन प्रश्नों का उत्तर सैद्धान्तिक क्षेत्र का विषय है। इस प्रकार उपयोगितावाद, भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा की दृष्टि में, एक नैतिक विकल्प प्रस्तुत नहीं करता है, अपितु सैद्धान्तिक विकल्प प्रस्तुत करता है। नैतिकता की तत्त्वमीमांसा के मूल सिद्धान्त का प्रकाशन 1785 में हुआ, व्यवहारिक बुद्धि की परीक्षा का प्रकाशन 1788 में तथा भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा का प्रकाशन 1790 में हुआ। अतः कांट के नीतिशास्त्र पर विचार करते समय भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा में प्रतिपादित मत पर ध्यान देना आवश्यक है।

कांट के समर्थकों का मानना है कि जिस प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में कांट ने 'कॉपरनिकस जैसी क्रान्ति' की है, उसी प्रकार नैतिकता के क्षेत्र में भी कॉपरनिकस जैसी क्रान्ति की है।⁴¹ कांट ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि 'नैतिक शुभ' को नैतिकता के निरपेक्ष आदेश के अभाव में परिभाषित नहीं किया जा सकता है। शुभ को परिभाषित करते समय हम उसे सामान्यतः इच्छा के विषय के रूप में परिभाषित करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में इच्छा के साथ विषय का आगंतुक संबंध ही संभव है, अनिवार्य नहीं। कोई विषय किसी परिस्थिति में हमें प्रिय लगता है, अन्य परिस्थिति में अप्रिय लगता है। 'नैतिक शुभ' अनिवार्य लक्ष्य होना चाहिए। लेकिन इच्छा के विषय के माध्यम से 'नैतिक शुभ' को परिभाषित करने वाले सभी प्रयास 'नैतिक शुभ' को सापेक्ष शुभ के रूप में ही ग्रहण कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य कठिनाई है। इच्छा वैयक्तिक होती है। अनेक संदर्भों में यह अविचारित रमणीय पदार्थ के लिए लालाइट होती है। इच्छित विषय को प्राप्त करने का हमारा सूत्र अनेक स्थलों में सार्वभौम न होकर वैयक्तिक होता है। अतः इच्छा का विषय निरपेक्ष नैतिक शुभ, नैतिकता के निरपेक्ष नैतिक आदेश के अभाव में, नहीं हो सकता है।

इस समस्या से छुटकारा हम पूर्णता को आदर्श बनाकर नहीं कर सकते हैं। पूर्णता (perfection) की चर्चा किसी पदार्थ या गुण के सापेक्ष खड़ी होती है। किसी चाकू की पूर्णता उसकी तेज धार में देखी जा सकती है। मानव के संदर्भ में भी हम देखते हैं कि सबमें अलग-अलग गुणों के कारण विशेषता होती है। किसी में बौद्धिक बल होता है, किसी में शारीरिक

बल तथा किसी में कलात्मक बल होता है। इन सभी की पूर्णता अलग-अलग प्रकार से होगी। पुनः ये सभी पूर्णताएँ संकल्प के शुभ न होने पर अपूर्ण कही जायेंगी। नैतिक सदगुण की भी स्थिति इस प्रकार की होगी। सत्य बोलना सदगुण है। किसी सभा में अचानक मात्र किसी के सम्मान को धक्का पहुँचाने के लिए सत्य बोलना नैतिक नहीं कहा जायेगा। अतः कांट पूर्णता के विकल्प को नैतिकता के निरपेक्ष आदेश के अभाव में शुभ मानने को तैयार नहीं है। यदि हम कांट के विकल्प को नहीं मानते हैं, तो शुभ को इच्छा के विषय के रूप में स्वीकार करने के अतिरिक्त हमारे पास अन्य विकल्प नहीं हैं। जॉन सिल्वर, जो इस दृष्टि के पक्षधर हैं यह मानते हैं कि कांट ने नीतिशास्त्र में 'कॉपरनिकस क्रान्ति' की है। उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि हम 'इच्छा का विषय', 'इच्छा का विषय होना चाहिए' इसमें भेद करके भी कांट के आक्षेप से नहीं बच सकते हैं। कांट की दृष्टि के अभाव में, एपीक्यूरस को यह निष्कर्ष निकलना पड़ा कि सदगुणी व्यक्ति गरीबी में भी सुखी है। यदि कांट के सिद्धान्त को नहीं मानते हैं, तो नैतिक और नैतिकेतर शुभ में भेद नहीं किया जा सकता है।⁴²

20वीं शताब्दी में जॉन राल्स ने आधुनिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में कांट के विचारों को सशक्त ढंग से रखा है। वह स्पष्टतः कहते हैं कि 'शुभ के प्रत्यय को अधिकारण के प्रत्यय से पूर्व परिभाषित नहीं किया जा सकता है'⁴³ जैसा कि पूर्णतावादियों और उपयोगितावादियों ने करने का प्रयास किया है। अतः वे भी अप्रत्यक्ष रूप से सहमत हैं कि कांट ने नीतिशास्त्र में कॉपरनिकस जैसी क्रान्ति की है। उनका मत है कि एक नैतिक सिद्धान्त को शुभ को केंद्रिय विषय के रूप में लेकर परिक्रमा नहीं करनी चाहिए, अपितु ऐसे अधिकार (जो शुभसंकल्प के आकारिक प्रत्यय के साथ हैं) के (आकारिक) प्रत्यय की परिक्रमा करनी चाहिए, जैसे उसका निर्माण शुद्ध व्यवहारिक बुद्धि के द्वारा हुआ हो, तथा जिसमें अनुमति प्राप्त कोई भी शुभ युक्त हो सके। यहाँ अनुमति प्राप्त शुभ से तात्पर्य, ऐसे शुभ से है जिसका अनुमोदन नैतिक नियम से संभव हो। वे कहते हैं, 'We might say that a moral conception is not to revolve around the good as an independent object, but around a (formal) conception of the right (together with a [formal] conception of a good will), as constructed by our pure practical reason, into which

any permissible good must fit."⁴⁴ जॉन राल्स ने लाक, रूसो और कांट के सिद्धान्तों के आधार पर सामाजिक-संविदा (Social contract) के सिद्धान्त को, उपयोगितावाद के विरोध में खड़ा किया है। उनका संविदावाद परंपरागत संविदावाद से भिन्न है, क्योंकि यह ऐतिहासिक स्थिति पर आधारित नहीं है। यह शुद्ध कल्पनात्मक स्थिति पर आधारित है, जिसके आधार पर न्याय के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया जा सकता है। जिस प्रकार विज्ञान में तरंग आदि 'माडलों' का प्रयोग करके सूक्ष्म पदार्थों को समझने का प्रयास किया जाता है; उसी प्रकार की स्थिति सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक हलचल को समझने के लिए संविदा-सिद्धान्त की जान पड़ती है।

कांट के निरपेक्ष आदेश में वे न्याय का सूत्र पाते हैं।⁴⁵ उनकी यह व्याख्या युक्तियुक्त है कि नैतिकता का निरपेक्ष आदेश मानव को स्वतंत्र तथा समान बौद्धिक प्राणी मानकर नैतिकता का विधान करता है। इस नियम की प्रामाणिकता इस पर निर्भर नहीं है कि उस मानव की क्या इच्छा है। सहेतुक आदेश मानव की इच्छा पर निर्भर हैं। अतः न्याय के सिद्धान्त पर अमल करने का अर्थ है कि निरपेक्ष आदेश के आधार पर क्रिया करना; चाहे हमारा लक्ष्य कुछ भी हो। जॉन राल्स, कांट के उन नीतिशास्त्रीय ग्रंथों को संविदावाद का पोषक मानते हैं, जिसका सृजन कांट ने शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा के बाद किया है। अतः नैतिकता की तत्त्वमीमांसा के मूल सिद्धान्त तथा इसके बाद आने वाले अन्य नीतिशास्त्रीय ग्रंथ, उनके अनुसार संविदावाद के पोषक है।⁴⁶ हम इस विवाद के जाल को तूल न देते हुए मात्र इतना कह सकते हैं कि जॉन राल्स ने कांट के ग्रंथों के आधार पर जो उपरोक्त निष्कर्ष निकाले हैं, वे कांट के दर्शन के प्रतिकूल नहीं हैं।

कांट ने यह स्वीकार किया है कि एक समय था, जब वह ज्ञान में अपने को वरिष्ठ तथा अनपढ़ों को हेय दृष्टि से देखता था। ज्ञान पिपासा की तुष्टि को ही मानव का लक्ष्य मानता था। रूसो के प्रभाव से उसकी दृष्टि में परिवर्तन आया। उसने मानवता का आदर करना सीखा। वह समझ गया कि मेरा मूल्य एक श्रमिक की अपेक्षा नगण्य है, यदि उसकी दृष्टि मानवता के अधिकारी सदस्य के रूप में अन्यो को मूल्य नहीं प्रदान करती है। कांट की दृष्टि में प्रत्येक मानव का मूल्य अमूल्य है। इसे किसी से विस्थापित नहीं किया जा सकता है। अतः कांट ने करुणा, दया, दान आदि सदगुणों की

बहुत प्रशंसा नहीं की है। वह यह मानता था कि समाज में जो 'न्याय-रहित' अवस्था व्याप्त है, उसकी पूर्ति के लिए यह प्राकृतिक प्रेरणा है। करुणा आदि समाज में ऋण को चुकाने वाले भाव हैं ऐसे ऋण, जिसका हमको भान ही नहीं होता है। भावनाप्रधान नैतिक शास्त्री जैसा इन सद्गुणों को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाते हैं, वैसा नहीं है।

यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि पैटन के अनुसार निरपेक्ष नैतिक आदेश के पाँच सूत्रों में से, सूत्र 1 तथा 3 मुख्य सूत्र हैं; अन्य सूत्रों का महत्त्व मूर्त परिस्थितिओं में उपरोक्त दो सूत्रों के व्यवहारिक प्रयोग को सरल बनाना है। जॉन राल्स के अनुसार, कांट के नैतिक सिद्धान्त को समझने के लिए सार्वभौमिकता और सामान्यता के स्थान पर बौद्धिक प्राणी के रूप में मानवीय समानता और स्वतंत्रता को अधिक महत्त्व देना चाहिए। कुछ व्याख्याकार ऐसा मानते हैं कि सभी सूत्रों में एकार्थता नहीं है। ऐसी स्थिति में बेहतर विकल्प यही प्रतीत होता है कि इस विषय में कांट के मत को ही स्वीकार किया जाय। कांट ने स्पष्ट रूप से नैतिकता की तत्त्व मीमांसा के मूल सिद्धान्त में यह कहा है कि निरपेक्ष नैतिक नियम एक है; त्रिसूत्री के माध्यम से अर्थात् आत्मनिष्ठ दृष्टि से, किसी विशेष पहलू को किसी सूत्र में अधिक स्पष्ट किया गया है।⁴⁷

कांट का उपरोक्त विचार सत्य प्रतीत होता है। प्रथम सूत्र न केवल मानव को अपितु मानवेतर बौद्धिक प्राणियों को भी अपने घेरे में ले लेता है। इसलिए सार्वभौमिकता तथा अनिवार्यता का स्पष्ट संकेत इस सूत्र से मिलता है। कांट, मानव को बौद्धिक प्राणी मानता है। अतः द्वितीय सूत्र में स्पष्ट रूप से मानव को साध्य के रूप ग्रहण करने का आग्रह किया गया है। III(a) में भी, कुछ इसी प्रकार की झलक है। अतः समाजशास्त्री और राजनीतिशास्त्र के विद्वान इन सूत्रों को अधिक महत्त्व दे सकते हैं। लेकिन कांट के अनुसार सभी सूत्रों में तीन धर्म हैं⁴⁸ — (1) उनमें आकार है, जिसके माध्यम से सामान्यीकरण संभव है; (2) उसमें विषय या द्रव्य (matter) है, जो साध्य स्वरूप है (कांट ने इच्छा के विषय के रूप में साध्य को नैतिकता का आधार बनाने पर आपत्ति की है; स्वयं मानव या मानवता को साध्य बनाने पर नहीं, क्योंकि बौद्धिक प्राणी के रूप में वह स्वयं साध्य है); (3) सभी मानवों द्वारा चयनित लक्ष्यों में संगति, जिसके कारण वे प्रकृति में संभावित साध्य बन

सकें। आकार के कारण 'एकता', द्रव्य के कारण 'अनेकता' तथा 'साध्यों' के संभावित समुदाय के कारण 'संपूर्णता' के माध्यम से निरपेक्ष नैतिक आदेश अभिव्यक्त होता है।

जॉन राल्स ने संविदा सिद्धान्त के माध्यम से कांट की, इस दृष्टि — 'मनुष्य स्वयं साध्य है, साधन नहीं', को स्पष्ट करने का जो प्रयास किया है, वह स्तुत्य है।⁴⁹ सामाजिक परिप्रेक्ष्य में इस कथन का क्या अर्थ है कि मनुष्य स्वयं साध्य है, साधन नहीं? यदि मानव को साध्य मानते हैं, तो राल्स के अनुसार इसका अर्थ है कि समाज की मूल संरचना में प्रत्येक मानव ने संविदा के आधार पर यह बन्धन स्वेच्छा से इसलिए स्वीकार किया है कि समाज जिन सिद्धान्तों को स्वीकार करेगा उसके माध्यम से स्वतंत्र, समान, नैतिक, बौद्धिक प्राणी के रूप में प्रत्येक मानव के हितों की सुरक्षा को समान महत्त्व देगा।⁵⁰ इसके विपरीत, यदि मनुष्य को साधन मानते हैं, तो इसका अर्थ यह होगा कि सामाजिक नियम इस प्रकार के होंगे कि बहुसंख्यकों की उच्च अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए कुछ लोगों के हितों का बलिदान किया जा सकता है।⁵¹ इस प्रकार मनुष्य साध्य है' इस अमूर्त सिद्धान्त को, जॉन राल्स ने सामाजिक एवं राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में मूर्त रूप देने का प्रयास किया है।

कांट के नैतिक सिद्धान्तों की संविदा-सिद्धान्त के माध्यम से की जाने वाली व्याख्या को संदेह की दृष्टि से देखा जा सकता है। लेकिन इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि जॉन राल्स ने कांट के दर्शन को समझने के लिए एक मूर्त परिप्रेक्ष्य दिया है तथा साथ ही साथ उपयोगितावादी सिद्धान्तों को कड़ी टक्कर दी है।

कांट के दर्शन के सामाजिक और राजनैतिक विचारों का विचार करते समय यह तथ्य को नहीं भूलना चाहिए कि संकल्प की स्वतंत्रता का बोध निरपेक्ष नैतिक आदेश की बाध्यता के कारण है।⁵² निरपेक्ष नैतिक आदेश के आकारिक स्वरूप के कारण अनेक नीतिशास्त्री इसकी उपेक्षा करते हुए प्रतीत होते हैं। वे भूल जाते हैं कि आकार की व्यापकता द्रव्य (matter) के लिए अधिक स्थान प्रदान कर सकती है ठीक उसी प्रकार जैसे देश की शून्यता ठोस द्रव्यों के लिए अधिक स्थान प्रदान करती है। इसी प्रकार किसी विशेष द्रव्य की स्थिति एक प्रकार से अन्य द्रव्यों के लिए संकट प्रदान कर सकती है। यह तथ्य अधिक स्पष्ट हो जाता है जब हम देखते हैं

कि कांट ने किस प्रकार नैतिकता की तत्त्वमीमांसा में संकीर्ण कर्तव्य (narrow duties) और उदार कर्तव्य (wide duties) में भेद किया है। संकीर्ण कर्तव्य बाध्यकारी ("strict" or "rigorous" or 'perfect') होते हैं; इनके द्वारा उपस्थित किए गये नैतिक कर्म को न करने से निरपेक्ष नैतिक आदेश के साथ विसंगति दिखायी पड़ती है। ये मुख्यतः निषेधात्मक होते हैं (जैसे किसी से लिए गये ऋण को लौटाने का वादा करके नहीं तोड़ना चाहिए)। लेकिन उदार कर्तव्यों के विस्तार में संपूर्ण बाध्यता का अभाव रहता है तथा उसमें कर्त्ता की स्थिति की सापेक्षता की भूमिका मुखरित रहती है। यहाँ बाध्यता की सीमा अनिश्चित होती है। कांट इस प्रकार के कर्तव्यों को अनिश्चित कर्तव्य (indetermined duties) कहता है। इन्हें कांट अपूर्ण कर्तव्य भी (imperfect duties) कहता है। दूसरों के प्रति प्रेम का व्यवहार कर्तव्य हो सकता है लेकिन इसे किस सीमा तक ले जाना चाहिए, इसके निर्धारण में नैतिक नियम मौन है।⁹³ ऐसा प्रतीत होता है कि कांट के अनुसार मुख्यतः जहाँ न्याय का उल्लंघन होता है, वहाँ नैतिकता का नियम कठोरता लिए अभिव्यक्त होता है, जहाँ दूसरे को सुख देने का प्रसंग है या स्वगुणों को उन्नत करने का प्रसंग है, वहाँ नैतिक नियम में व्यक्ति की स्थिति की अपेक्षा से विस्तार और घटाव का विकल्प रहता है।

भारतीय दर्शन में अभ्यास-दशा और अनभ्यास-दशा का जो भेद किया गया है, वह कांट के नैतिक दर्शन की व्याख्या के लिए सुगम्य आधार प्रदान करता है। अभ्यास दशा में हम स्वभावतः नैतिकता के निरपेक्ष आदेश के अनुसार व्यवहार करते हैं, अतः हम ऐसी मानसिक स्थिति में नहीं होते हैं कि अपने कर्तव्य कर्म को निरपेक्ष आदेश के तराजू पर तौलते हुए कर्म करते हैं। अनभ्यास दशा में ही यह प्रसंग उपस्थित होता है। इसके अतिरिक्त कांट कभी यह नहीं कहता है कि कर्तव्य कर्म करते हुए भावना या संवेग के रहने पर दोष उत्पन्न होता है। कांट अपने दर्शन को स्टोइको के दर्शन से पृथक् करते हुए कहता है कि इन ग्रीक विचारकों का मुख्य दोष यह था कि ये अनैतिकता का स्रोत मानव की भावना या संवेगों में देखते थे तथा संन्यासीवत् व्यवहार को प्रमुखता देते थे। कांट का मत, इस मत से भिन्न है। अनैतिकता का मूल सूत्र संवेग और वासनाओं में न होकर उन सिद्धान्तों में हैं, या उन सूत्रों में है जो हमारे कार्य को निर्धारित करते हैं। यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य है। हम यह नहीं कह सकते हैं कि हमसे भिन्न मत रखने वाले

इसलिए भिन्न मत रखते हैं, कि उनमें इंद्रिय-निग्रह कम है। मत-विभिन्नता का मुख्य कारण सैद्धान्तिक मतभेद है। कांट ने इसलिए अनैतिकता या मूल दोष (radical evil) का स्रोत ऐसे सूत्रों में देखने का प्रयास किया है जो निरपेक्ष आदेश को कर्तव्यकर्म का निर्धारक नहीं मानते हैं।⁵⁴ कांट संवेगों और भावनाओं को उपयोगी मानता है। वह यह भी मानता है कि उनको हटाना या नष्ट करना हानिकारक होगा।⁵⁵ नैतिकता में हमारा प्रयास नैतिकता के साथ उनकी संगति बैठानी में होनी चाहिए। अतः जर्मन विचारक शिलर का व्यंग्य ठीक नहीं है। शिलर कहते हैं, 'जिस मित्र से हम प्रेम करते हैं, उसका हम प्रेम से स्वागत करेंगे। लेकिन अफसोस! यह संवेगों के कारण है, अतः कर्तव्यता मुझे इसे करने से रोकती है, यद्यपि प्रेम मुझे आनंदित करता है।' शिलर कहता है — *The friends whom I love I gladly would serve, but to this inclination incites me; And so I am forced from virtue to swerve since my act, through affection, delights me.*⁵⁶

अतः जिस मित्र से तुम प्रेम करते हो उसे प्रथम बुरा कहने का प्रयास करो, अन्य किसी प्रकार से मैं तुमको मार्गदर्शन नहीं दे सकता; जिन कर्मों का संकेत कर्तव्यता कर रही है, मात्र उसे उचित रूप से तुम घृणा के साथ ही कर सकते हो — *"The friends whom thou lovest thou must first seek to scorn, for to no other way can I guide thee; This alone with disgust thou canst rightly perform the acts to which duty would lead thee."*

इस प्रकार के आक्षेपों का निराकरण, अभ्यास दशा और अनभ्यास दशा में भेद के द्वारा तथा कांट के मत को ठीक से हृदयंगम करने के पश्चात्, कठिन नहीं है। जॉन राल्स ने भी शिलर के व्यंग्य को उचित नहीं माना है।

कांट यह मानता है कि सर्वोच्च सामाजिक शुभ एक व्यक्ति के प्रयास से संभव नहीं है। कांट एक नैतिक कुल (Ethical Commonwealth) के आदर्श की कल्पना करता है जिसका भूमि पर अवतरण सभी व्यक्तियों के द्वारा इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सामूहिक प्रयास के अतिरिक्त, करण के रूप में ईश्वरीय सहायता की अपेक्षा से संभव है।⁵⁷

कांट इस प्रश्न की वैधता को स्वीकार करता है कि जिस प्रकार शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा में 'शुद्ध' शब्द विशेषण है उसी प्रकार इसे व्यवहारिक बुद्धि की परीक्षा में भी इसे विशेषण होना चाहिए। कांट का समाधान है कि इस ग्रंथ का मूल उद्देश्य शुद्ध व्यवहारिक बुद्धि के अस्तित्व को प्रदर्शित करना है तथा इसके लिए व्यवहारिक बुद्धि की आलोचना या परीक्षा की गयी है। परीक्षा यदि सफल है तो शुद्ध-व्यवहारिक बुद्धि की आलोचना का प्रसंग उपस्थित नहीं होता है क्योंकि निरपेक्ष नैतिक आदेश के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करते हुए अपनी तथ्यता की पुष्टि करती है।⁵⁸

III

कांट के अनुसार— स्वतंत्रता, आत्मा की अमरता तथा ईश्वर की सत्ता शुद्ध-व्यवहारिक बुद्धि की पूर्व मान्यताएँ हैं। यहाँ 'पूर्वमान्यता' शब्द एक भ्रम पैदा करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'स्वतंत्रता', आत्मा की अमरता तथा ईश्वर के रूप में तीन पूर्वमान्यताओं के बिना हमारा नैतिकता के साथ परिचय नहीं होता है। तथ्य इसके विपरीत है। निरपेक्ष नैतिक आदेश के कारण ही स्वतंत्रता से हमारा परिचय होता है तथा 'आत्मा की अमरता' और 'ईश्वर की सत्ता' की पूर्वमान्यता के लिए भी यह आधार का कार्य करता है। इस प्रकार नैतिकता, कांट के अनुसार, इन पूर्वमान्यताओं के माध्यम से धर्म के क्षेत्र में निसर्गतः प्रवेश करती है।

कांट के अनुसार जिस अर्थ में 'पूर्वमान्यता' (postulate) का प्रयोग यहाँ किया गया है, वह इसके गणितीय प्रयोग से भिन्न है। कांट ने स्पिनोजा की पद्धति को दर्शन के लिए अनुपयुक्त बताया है। गणित में प्रत्यय परिभाषाओं के माध्यम से दिए जाते हैं तथा पूर्वमान्यताओं का उपयोग उनके क्षेत्र में वैध क्रिया को निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए बिन्दु और रेखा की परिभाषा देने के बाद यूक्लिड के तंत्र में एक पूर्वमान्यता 'यह कहती है कि किसी बिन्दु से किसी अन्य बिन्दु तक रेखा खिंची जा सकती है। यहाँ पूर्वमान्यता, स्वतः सिद्ध तथ्यों में क्रिया करने का विधान विषयगत आधार पर निश्चयता पूर्वक करती है। लेकिन व्यवहारिक क्षेत्र में पूर्वमान्यता का कार्य ऐसे दो तत्त्वों (सद्गुण और सुख) को जोड़ना है, जिनकी स्वतः सिद्धता नहीं दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए जगत् में हम अनिवार्य रूप से यह विधान नहीं कर सकते हैं कि जो जितना सद्गुणी होगा, उतना ही सुखी होगा। अतः पूर्वमान्यता का कार्य नैतिक क्षेत्र में गणित से भिन्न है।⁵⁹ इन

दोनों को जोड़ने के लिए 'ईश्वर' का पूर्वमान्यता के रूप में विधान किया गया है। यहाँ पूर्वमान्यता के विधान का आधार विषयीगत होता है, क्योंकि कर्त्ता के कर्तव्य कर्म ही, पूर्वमान्यता को आधार प्रदान करते हैं।

'पूर्वमान्यता' को कांट, अनिवार्य परिकल्पना (necessary hypothesis) कहता है, लेकिन यहाँ भी 'परिकल्पना' का अर्थ विज्ञान में प्रयुक्त इसके अर्थ से भिन्न है। विज्ञान में जो परिकल्पित तत्त्व है वह ज्ञान का विषय हो सकता है, लेकिन 'अनिवार्य परिकल्पना' कभी भी ज्ञान के रूप में अवतरित नहीं होगी। यह तत्त्व के बोध के लिए ज्ञान के प्रकार से एक भिन्न प्रणाली है, लेकिन उससे किसी भी अर्थ में निम्न श्रेणी की नहीं है।

बेक ने सुन्दर ढंग से दिखाया है कि किस प्रकार कांट की मान्यता विलियम जेम्स की मान्यता से भिन्न है। जेम्स में ईश्वरीय विश्वास बुद्धि की विफलता के फलस्वरूप माना गया है, जबकि कांट के दर्शन में वह बुद्धि की सफलता का परिचायक है।

उपरोक्त तीनों पूर्वमान्यताओं में स्वतंत्रता की पूर्वमान्यता की स्थिति अन्य दोनों से भिन्न है। स्वतंत्रता का वर्गीकरण कांट ने तथ्यात्मक विषय के अन्तर्गत किया है; जबकि आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता का वर्गीकरण श्रद्धात्मक विषय के अन्तर्गत किया गया है। कांट के अनुसार बोधात्मक विषयों का तीन वर्गों में वर्गीकरण संभव है— धारणात्मक विषय, तथ्यात्मक विषय तथा श्रद्धात्मक विषय।⁶⁰ ऐसे विषय जो इन्द्रिय संवेदन के विषय के रूप में कल्पित किये जाते हैं, लेकिन इन्द्रियों के संवेदन की एक निश्चित सीमा के कारण प्रत्यक्ष नहीं होते हैं, धारणात्मक हैं। कांट इसके उदाहरण के रूप में भौतिकविदों द्वारा मान्य 'एथर' की परिकल्पना को मानता है। ऐसे प्रत्यय जिनके विषय संवेदन के माध्यम से दिये जा सकते हैं, वे तथ्यात्मक विषय हैं; इसके अतिरिक्त गणितीय परिमाणात्मक धर्म तथा स्वतंत्रता का विज्ञान (idea of freedom) भी इसी के अन्तर्गत है। ऐसे विषय जिन्हें अनुभव निरपेक्ष ढंग से सोचा जा सकता है तथा जिनकी संगति कर्तव्य के साथ होती है, श्रद्धात्मक विषय हैं। जगत् में सर्वोच्च शुभ का अवतरण स्वतंत्रता के कारण संभव होगा। अतः सर्वोच्च शुभ तथा इसको मूर्तरूप से घटित करने के लिए आत्मा की अमरता तथा ईश्वर की सत्ता श्रद्धात्मक विषय हैं। ऐसे विषय जिन्हें हम दूसरे के अनुभव के आधार पर स्वीकार करते हैं, वे मूलतः अनुभव पर ही आधारित हैं। अतः वे तथ्यात्मक विषय हैं। ऐसे विषय जो विज्ञान, भूगोल तथा इतिहास आदि में परिकल्पित

हैं लेकिन भविष्य में ज्ञान के विषय हो सकते हैं, वे श्रद्धात्मक विषय नहीं हैं। इसी प्रकार रहस्यवादियों का ईश्वर भी श्रद्धात्मक विषय नहीं है, क्योंकि वे उसकी सत्ता मूलतः अतीन्द्रियानुभूति के आधार पर व्यवस्थित करते हैं। कांट का ईश्वर श्रद्धात्मक विषय है।

इस प्रकार तीनों पूर्वमान्यताओं में स्वतंत्रता की स्थिति, आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता से भिन्न है। इसका विवेचन, आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता की प्रासंगिकता प्रदर्शित करने के बाद किया जायेगा। 'आत्मा की अमरता' और ईश्वर की सत्ता का विधान 'आशा (hope)' की समस्या के समाधान के लिए किया गया है। कांट ने शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा में बुद्धि की अभिरुचि, तीन प्रश्नों के संदर्भ में वर्णित की है— (1) हम क्या जान सकते हैं? (2) हमें क्या करना चाहिए? तथा (3) मुझे क्या आशा करनी चाहिए? प्रथम प्रश्न सैद्धान्तिक है, द्वितीय प्रश्न व्यवहारिक है तथा तृतीय प्रश्न व्यवहारिक और सैद्धान्तिक दोनों हैं। यहाँ व्यवहारिक बुद्धि, ईश्वर और आत्मा की अमरता से संबन्धित सैद्धान्तिक प्रश्न के समाधान के लिए सूत्र प्रदान करती है।

समस्त आशा की पूर्ति सुख के लक्ष्य को प्राप्त करने से होती है। सुख का अर्थ समस्त इच्छाओं की परिमाणात्मक, गुणात्मक तथा कालिक दृष्टि से संतुष्टि है। अतः अनन्तजीवन भी सुखात्मक संतुष्टि का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। यदि सुख हमारे नैतिक कर्म करने का अभिप्रेरक बनता है, तो कांट ऐसे नैतिक नियम को कुशल नियम (law of prudence) की संज्ञा देता है। लेकिन यदि कोई ऐसा नियम जो यह दिखाता है या जो हमें यह बताता है कि सुख की योग्यता के अनुरूप होने के लिए हमें किस प्रकार का नैतिक व्यवहार करना चाहिए, तो कांट इसे नैतिक नियम कहता है। प्रथम मार्ग अनुभवात्मक है, क्योंकि हम अनुभव से ही जानते हैं कि हमारी इच्छाएँ क्या हैं तथा उनकी संतुष्टि कैसे होगी। द्वितीय मार्ग विशुद्ध अनुभव निरपेक्ष बुद्धि का मार्ग है जो इच्छाओं का वर्णन नहीं करती है, अपितु केवल अनुभव निरपेक्ष रूप से यह विधान करती है कि स्वतंत्रता पर आधारित कर्तव्यकर्म के साथ सुख की संगति कैसे होगी।

कांट के अनुसार पूर्ण शुभ के अन्तर्गत 'सद्गुण और सुख' दोनों तत्त्व होते हैं।¹ यहाँ दो संभवनाएँ हैं। प्रथम, यदि दोनों के मध्य त्रिभुज और उसकी तीन भुजाओं के सदृश विश्लेषणात्मक संबन्ध हो या दोनों में

तादात्म्य संबन्ध हो, तो सदगुण के लिए पृथक् विधान व्यर्थ होगा, 'क्योंकि सुख के लिए किया गया प्रयत्न सदगुण के लिए भी किया गया प्रयत्न होगा'। प्राचीन ग्रीक दर्शन में, इस विषय में दो मत थे। लेकिन दोनों परमशुभ में इन्हें दो पृथक्-पृथक् तत्त्व के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। एपिक्यूरस के अनुयायी यह मानते थे कि 'सुख के विधान से अवगत होने का अर्थ है सदगुण के विधान से अवगत होना' तथा स्टोइक यह कहते थे कि 'स्वसदगुण से परिचित होने का अर्थ है सुख से परिचित होना।' एपिक्यूरस के अनुयायी मानते थे कि सुख ही पूर्ण शुभ है तथा स्टोइक मानते थे कि सदगुण ही पूर्णशुभ है।

द्वितीय, दोनों के मध्य संश्लेषणात्मक संबन्ध हो। कांट के अनुसार ऐसा ही है। कांट के अनुसार सदगुण और सुख दो भिन्न तत्त्व हैं। जगत् पर दृष्टिपात् करने पर स्पष्ट हो जाता है कि सदगुणी व्यक्ति अनेक उदाहरणों में सुखी नहीं दिखायी पड़ते हैं। दोनों के मध्य संश्लेषणात्मक संबन्ध है। यह संश्लेषणात्मक संबन्ध दो प्रकार से घटित हो सकता है। प्रथम विकल्प है कि सुख के लिए किया गया प्रयत्न सदगुणात्मक वृत्ति को जन्म देता है, द्वितीय विकल्प है कि सदगुणात्मक प्रयत्नात्मक वृत्ति ही सुख को जन्म देती है। प्रथम विकल्प को कांट पूर्णतः अस्वीकार करता है। द्वितीय विकल्प पूर्णतः असत्य नहीं है। इसकी असत्यता की प्रतीति लौकिक जगत् में दिखायी पड़ती है। लेकिन यह मानने में कोई विसंगति नहीं है कि बौद्धिक पारमार्थिक सत् के रूप में भी मेरा अस्तित्व है तथा निरपेक्ष नैतिक आदेश के माध्यम से अनिवार्यतः (अपरोक्ष रूप से न सही) परोक्ष रूप से (प्रकृति के बौद्धिक सृष्टिकर्ता के माध्यम से) सुख का कारण होता हूँ। मात्र सुख, हमारी बुद्धि के लिए पूर्ण शुभ नहीं है। बुद्धि, सुख का अनुमोदन तभी करती है, जब हम नैतिकता के अनुपालन से सुखोपभोग की योग्यता अर्जित करते हैं। मात्र नैतिकता, सुख के लिए योग्यता की स्थिति है, सुख प्राप्ति की स्थिति नहीं है। हम कर्म के कर्त्ता हैं, प्रकृति के कर्त्ता नहीं हैं। प्रकृति हमें अनिवार्यतः सुख प्रदान करेगी, इसका निश्चय पूर्वक विधान नहीं किया जा सकता है। अतः कार्मिक योग्यता को सुखाभोग के साथ जोड़ने के लिए पूर्वमान्यता के रूप ईश्वर की सत्ता माननी पड़ती है। यह सत्ता अवश्य ही सर्वशक्तिमान् (omnipotent) माननी पड़ेगी, क्योंकि सर्वशक्तिमान् सत्ता की इच्छा के अनुकूल संपूर्ण प्रकृति तथा नैतिकता के साथ इसका संबंध संगतिपूर्ण हो;

सर्वज्ञ (omniscient) होगी, जिससे वह हमारे अन्तर्तम भावों और नैतिक योग्यता को जान सके तथा सर्वत्र (omnipresent) होगी जिससे वह सर्वोच्च शुभ की आवश्यकता के अनुसार सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, वह नित्य आदि होगी, जिससे प्रकृति और स्वतंत्रता का संबंध सदा संगतिपूर्ण रह सके।

कांट यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न करता है कि ईश्वर की सत्ता का विधान नैतिक आधार पर ही संभव है। सत्तामूलक तर्क और सृष्टिमूलक तर्क का खंडन शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा में किया गया है। सृष्टि के आधार पर ईश्वर का विधान करने के लिए, कांट के अनुसार, हमें समस्त जगत् को यथावत् जानना पड़ेगा। हमें यथावत् ज्ञान, मात्र इस जगत् का नहीं अपितु सभी संभावित जगत्‌ओं का भी होना चाहिए। इसके लिए हमें सर्वज्ञ होना होगा। हम सर्वज्ञ नहीं हैं। सृष्टि के विषय में वैज्ञानिक ज्ञान भी आधा-अधूरा है। इस आधे-अधूरे ज्ञान के आधार पर ईश्वर का विधान ठीक नहीं है। प्रयोजनमूलक तर्क भी जगत् के कारण को एक ज्ञानी, शुभ और शक्तिमान् सत्ता के रूप में सिद्ध कर सकता है; लेकिन वह कारण सर्वज्ञ, सकल रूप से शुभ तथा सर्वशक्तिमान् आदि है, मात्र नैतिकता के सूत्र को पकड़ने पर ही समझ में आता है। अतः ईश्वर की सत्ता शुद्ध-व्यवहारिक-बुद्धि की पूर्वमान्यता के रूप में ही ग्राह्य प्रतीत होती है।

जिस प्रकार कार्मिक योग्यता को सुख के साथ जोड़ने के लिए ईश्वर की पूर्वमान्यता अपेक्षित है, उसी प्रकार उस पूर्ण शुभ को अनुभवात्मक रूप से यथार्थ में ढालने के लिए आत्मा की अमरता की पूर्वमान्यता भी अपेक्षित है। पूर्ण शुभ को प्राप्त करने के लिए हमारे संकल्प को पूर्णतः पूतसंकल्प (Holywill) होना चाहिए। लेकिन हमारे संकल्प का स्वरूप ऐसा नहीं है। अतः अनन्तजीवन की आवश्यकता है जिससे हम निरंतर प्रगति करते हुए अपने संकल्प को नैतिक नियम के अनुरूप अपने संकल्प को पूत बना सकें और जिससे पूर्ण शुभ हमारे लिए यथार्थतः साक्षात्कार के रूप में घटित हो सके। यदि आत्मा की अमरता को पूर्वमान्यता के रूप में ग्रहण नहीं करते हैं, तो नैतिक नियम पर, कृति-असाध्य-विषय के विधान का आरोप लगाया जा सकता है जिससे नैतिक नियम की पवित्रता नष्ट हो जायेगी।

शुद्ध व्यवहारिक बुद्धि की पूर्वमान्यताओं (स्वतंत्रता, आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता) में स्वतंत्रता की स्थिति दोनों से भिन्न है। अंतिम दो पूर्वमान्यताएँ मुख्यतः हमें क्या आशा करनी चाहिए? इस प्रश्न के

समाधान के लिए आवश्यक हैं, लेकिन स्वतंत्रता की स्वीकृति 'मुझे क्या करना चाहिए' इस प्रश्न के समाधान के लिए भी आवश्यक है। कांट के अनुसार स्वतंत्रता, नैतिक नियम के अस्तित्व (ratio essendi) के लिए आवश्यक है तथा नैतिक नियम, स्वतंत्रता के ज्ञान (ratio cognoscendi) के लिए आवश्यक है।⁶² यदि नैतिक नियम के साथ हमारा परिचय नहीं होता तो स्वतंत्रता की हमारी संकल्पना का औचित्य नहीं होता। इसलिए स्वतंत्रता की गणना तथ्यात्मक विषय में की गयी है। इसकी विस्तृत चर्चा व्यवहारिक बुद्धि की परीक्षा के प्रथम भाग (विश्लेषणात्मक खण्ड) में अधिक दिखाई पड़ती है; लेकिन पूर्वमान्यताओं की चर्चा करते समय द्वितीय खण्ड में भी इसको भूलाया नहीं गया है। स्वतंत्रता की पूर्वमान्यता के रूप में रखने का क्या रहस्य है? बेक ने इसका समाधान यह दिया है कि स्वतंत्रता की दो पृथक्-पृथक् भूमिकाएँ हैं— एक नैतिक नियम के संदर्भ में, द्वितीय परमशुभ के संदर्भ में।⁶³ स्वतंत्रता को द्वितीय संदर्भ के आधार पर ही पूर्वमान्यता के रूप में ग्रहण किया गया है। इस पूर्वमान्यता के बिना 'परम शुभ' मात्र स्वप्न होगा। अतः तृतीय प्रश्न के संदर्भ में स्वतंत्रता, पूर्वमान्यता के रूप में प्रकट होती है, जबकि द्वितीय प्रश्न का उत्तर देते समय तथ्यात्मक विषय के रूप में प्रगट होती है। बेक का यह समाधान उचित प्रतीत होता है।

कांट के अनुसार विशुद्ध नैतिक नियम और स्वतंत्रता इस प्रकार एक-दूसरे से अपृथक् रूप से संबन्धित हैं कि यह कहना अधिक उचित होगा कि व्यवहारिक स्वतंत्रता का अर्थ संकल्प की ऐसी निरंकुशता है जिस पर मात्र विशुद्ध नैतिक नियम का अंकुश है। कांट के अनुसार अनेक चिन्तक यह विश्वास करते हैं कि यह एक आनुभविक सिद्धान्त है, एक मनोवैज्ञानिक धर्म है, जिसका सुगम बोध आत्मा के गहन अध्ययन से संभव है। लेकिन कांट इसे अस्वीकार करता है। भट्टाचार्यजी के शब्दों में हमें स्वतंत्रता का बोध आंतरिक संवेदना से नहीं होता है। कांट के अनुसार जो इसे मनोवैज्ञानिक धर्म मानते हैं वे हमें उस रहस्य से वंचित कर देते हैं जिसे व्यवहारिक बुद्धि, निरपेक्ष नैतिक आदेश के माध्यम से उद्घाटित करती है।⁶⁴ अतः संकल्प की स्वतंत्रता, स्वनियम का शासन (autonomy) है;⁶⁵ यह संकल्प का वह धर्म है, जिसमें यह धर्म स्वनियम स्वरूप होता है तथा स्वनियम नैतिकता का निरपेक्ष आदेश है। स्वतंत्रता का अर्थ नियम से मुक्तता नहीं है, बुद्धि कभी भी नियम मुक्त नहीं हो सकती है। स्वतंत्रता का

अर्थ ऐसे स्वनियम से संचालित होना है, जो अटल है। यह अटल नैतिक, नियम-निरपेक्ष आदेश का नियम है जिसका उत्स सार्वभौमिकता में है। कांट इस बात को स्वीकार करता है कि हम मनुष्यों के लिए इसकी व्याख्या करना असंभव है कि नैतिकता के लिए हम सार्वभौमिकता के सूत्र में अभिरुचि क्यों रखते हैं।

स्वतंत्रता को निषेधात्मक और भावात्मक दोनों अर्थों में कांट ने व्याख्यायित किया है। शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा में कांट ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि प्रकृति में पायी जाने वाली यांत्रिक कारणता के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार की कारणता संभव है। इस कारणता का उत्स स्वतंत्रता में है। कांट ने शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा में यह प्रदर्शित किया है कि एक ही घटना को एक दृष्टि से मात्र प्रकृति के अनिवार्य कारण-कार्य के उदाहरण के रूप में ले सकते हैं, तथा दूसरी दृष्टि इसे स्वतंत्रता के कारण का कार्य मान सकते हैं। व्यवहारिक स्वतंत्रता की यह पूर्व मान्यता है कि यद्यपि कोई घटना घटी हुई है, लेकिन उसके विषय में हम सोच सकते हैं कि इसे घटित नहीं होना चाहिए था। ऐसा सोचते समय इस घटना के कर्त्ता में हम स्वतंत्रता की परिकल्पना करते हैं। अतः एक ही घटना को प्राकृतिक व्यवस्था के अंग के रूप में तथा स्वतंत्रता के फल के रूप में देखने में विरोध नहीं है।⁶⁶

निषेधात्मक रूप से स्वतंत्रता का अर्थ वह शक्ति है, जो स्वच्छंद रूप से किसी संतान परंपरा या अवस्था को जन्म देती है। इस अर्थ में स्वतंत्रता निषेधात्मक है, स्वच्छंद (spontaneous) है। यह प्रकृति के नियमों से मुक्त हैं। भावात्मक अर्थ में स्वतंत्रता का अर्थ स्वनियम से शासित (autonomy) होना है।⁶⁷

बेक के अनुसार, व्यवहारिक बुद्धि की परीक्षा के लेखन के पूर्व कांट के दर्शन में दो पृथक्-पृथक् स्वतंत्रता की परिकल्पनाएँ दिखाई पड़ती हैं। एक का उत्स शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा में है। यहाँ स्वतंत्रता को स्वच्छंदता के रूप में लिया गया है। दूसरे का उत्स नैतिकता की तत्त्वमीमांसा की मूलभूत मान्यताएँ में है जहाँ स्वतंत्रता को संकल्प के स्वराज के नियम के रूप में लिया गया है। व्यवहारिक-बुद्धि की परीक्षा में इन दोनों का समन्वय किया गया है।

मुझे यह विचार सत्य प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि कांट ने स्वच्छंदता (spontenity) का प्रयोग केवल स्वतंत्रता के ही प्रसंग में नहीं किया है, अपितु अन्य स्थलों पर भी किया है। 'प्रत्ययों के विश्लेषण' नामक अध्याय में कांट ने यह कहा है कि प्रत्यय विचार की स्वच्छंदता (spontaneity) पर आधारित है।⁶⁸ जहाँ कहीं कांट ने इस शब्द का प्रयोग किया है उसके बाद नियमों का उल्लेख किया है। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता के प्रसंग में इस शब्द का उल्लेख करते समय कांट को नियम याद नहीं आये होंगे, लेकिन उसका प्रसंग वहाँ उपस्थित नहीं था। उसका प्रसंग नैतिकता की तत्त्वमीमांसा की मूल मान्यताएँ में खड़ा हुआ। अतः वहाँ इसका उल्लेख किया गया है। स्वतंत्रता का अर्थ 'संकल्प के स्वराज का नियम' यह शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा से अलग हटकर एक नया आविष्कार नहीं है, अपितु स्पष्टीकरण है।

यदि ऐसा है तो क्या कारण है कि कांट ने व्यवहारिक बुद्धि की परीक्षा तथा उसके बाद में आने वाले ग्रंथों में दो प्रकार के संकल्पों (will) का भेद किया है? एक प्रकार का संकल्प (wille) स्वराज का नियम देने के अर्थ में स्वतंत्र है, तथा द्वितीय प्रकार का संकल्प (willkur) विकल्पों के चयन की स्वतंत्रता है। बेक के अनुसार, द्वितीय प्रकार के संकल्प का स्रोत शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा में है क्योंकि कांट के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ है— सद्यः एक नयी संतान परंपरा को जन्म देना। प्रथम का स्रोत नैतिकता की तत्त्वमीमांसा की मूल सिद्धान्त में है।

हमने ऊपर संकेत किया है कि कांट ने जब कभी भी स्वच्छंदता (spontaneity) का प्रयोग किया है, तो उसे अनियमात्मक रूप से व्याख्यायित नहीं किया है। अतः दोनों प्रकार के संकल्प के विधान का स्रोत अन्यत्र देखना चाहिए। मेरी समझ से दो प्रकार से संकल्प के भेद करने का कारण अशुभ की समस्या है। यदि संकल्प बौद्धिक है तथा शुद्ध-व्यवहारिक बुद्धि है, तो क्यों हम निन्दनीय कर्म करते हैं? कांट ने शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा में जो उत्तर दिया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि हम इंद्रिय-वासनाओं के दबाव में आ जाते हैं, अतः हम अपने बौद्धिक स्वरूप के कारण निर्णय नहीं ले पाते हैं। "स्वतंत्रता, व्यवहारिक अर्थ में संकल्प का इंद्रिय-वासनाओं से मुक्त होना है।" शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा के बाद में विरचित ग्रंथों में कांट ने निरंतर स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि मात्र

इंद्रिय-वासनाएँ ही हमारे अशुभ कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं हैं।⁶⁹ इसका सबसे सुन्दर स्पष्टीकरण धर्म मात्र बुद्धि की मर्यादा के अंदर (**Religion Within the Limits of Reason Alone**) नामक ग्रंथ में किया गया है। मनुष्य नैतिक प्राणी है। अतः यह संभव नहीं है कि किसी मानव की अन्तर्चेतना में नैतिकता के निरपेक्ष आदेश के नियम का स्पंदन न हो। लेकिन संकल्प जो चयनिकारूप वाला है (willkur) वह अन्य अभिप्रेरकों या अन्य कारणों के कारण अन्य सूत्र को प्रमुख मार्ग दर्शक नैतिक नियम मानकर प्रवृत्त होता है, तथा सर्वोच्च नैतिक नियम को उससे निर्धारित मानता है तो अशुभ को जन्म देता है। अतः कांट के दर्शन में विकल्पों के चयन को लेकर जो संकल्प का स्वरूप 'विल्लक्युर (willkur)' में प्रतिपादित किया गया है, उसका मुख्य प्रयोजन अशुभ की समस्या की व्याख्या करना है। कांट कहता है कि अच्छे मनुष्य और बुरे मनुष्य में भेद अभिप्रेरकों के कारण नहीं, अपितु अभिप्रेरकों के मध्य संगति के कारण है। बुरा आदमी वह है जो निरपेक्ष आदेश को अन्य आदेशों के उपांग के रूप में स्वीकार करता है। अच्छा आदमी वह है जो निरपेक्ष आदेश को अभिप्रेरक के रूप में स्वीकार करता है।⁷⁰

संकल्प, सर्वोच्च नैतिक नियम के विधायक के रूप में (wille), शुद्ध व्यवहारिक बुद्धि है। वैकल्पिक चयन की स्वतंत्रता रूप में (willkur) वह स्वतंत्रता पूर्वक नवीन संतान परंपरा को जन्म देता है। लेकिन यहाँ भी इसकी क्रिया नियम मुक्त नहीं होती है। नैतिक नियम के दो अंश हैं — आकार और विषय। विषय प्राकृतिक क्षेत्र से आते हैं, लेकिन आकार सार्वभौमिक रूप से बुद्धि प्रदत्त होता है। यदि स्वतंत्र विकल्पतात्मक इच्छा (willkur) किसी नियम को मात्र विषय के आधार पर स्वीकार करती है, तो भी यह स्वतंत्र लक्षण वाली होती है, क्योंकि इसकी स्वतंत्रता नैतिक हेतु-फलात्मक आदेशों में भी झलकती है; लेकिन कर्म अशुभ होते हैं। वैकल्पिक स्वतंत्रता, शुभ मूल्य का पर्याय नहीं है, जैसा कि हम अनेक अस्तित्ववादी दार्शनिकों के दर्शन में पाते हैं। वैकल्पिक स्वतंत्र अशुभ और शुभ दोनों को जन्म देने में समर्थ है। शुभ का सृजन तब होता है जब हम मात्र कर्तव्यबोध से निरपेक्ष आदेश के सार्वभौमिकता को महत्त्व देते हैं। ऐसी स्थिति में हमारी इच्छा स्वतंत्र विधायिका एवं स्वच्छन्द है।

बेक ने सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है कि वैकल्पिक इच्छा (willkur), विधायिका इच्छा (will) के आदेश को मानते हुए भी स्वतंत्र हो सकती है, क्योंकि वे दोनों पृथक-पृथक दो स्रोत नहीं हैं, अपितु व्यवहारिक बुद्धि के दो आयाम हैं। नैतिकता के सर्वोच्च नियम के ग्रहण के लिए वैकल्पिक इच्छा को बाहर की यात्रा छोड़कर अन्दर की यात्रा करनी पड़ती है। अतः वैकल्पिक इच्छा जब स्वतंत्र विधायिका इच्छा का साक्षात्कार और वरण करती है, तो शुभ कर्मों को जन्म देती है। स्वतंत्र इच्छा ही एक अर्थ में विधायिका (wille) तथा दूसरे अर्थ में चयनिका (willkur) है।¹¹

वैकल्पिक स्वतंत्रता के अधिकांश प्रसंगों में हमारा चयन देश, काल, परिस्थिति व अथवा स्वार्थ के कारण होता है। ऐसे चयन से जो कर्मों का ताना-बाना खड़ा करते हैं, वे बन्धनात्मक ही होते हैं। लेकिन जब कर्तव्य कर्म की दृष्टि से विचार करते हैं, तो हम देश-काल व्यक्ति आदि के बन्धनों से ऊपर उठते हैं तथा यथार्थ स्वतंत्रता की तरफ अग्रसर होते हैं। गीता के शब्दों में दैवीय संपदा यथार्थ मोक्ष प्रदान करने वाली होती है (दैवी संपद विमोक्षाय)। इसका कारण यह है कि दैवीय संपदा का आकार सार्वभौम होता है। कृष्णमूर्ति ने भी 'व्यक्ति' और मानव का जो भेद किया है, उसमें भी मूल दृष्टि यही है। व्यक्ति, देश, काल, जाति, राष्ट्र का दास होता है या उससे परिच्छिन्न होकर प्रवृत्त होता है; लेकिन मानव इन विशेषणों से युक्त होते हुए भी इनसे मुक्त होकर प्रवृत्त होता है।¹²

IV

कांट के नीतिशास्त्र की चर्चा अधूरी रहेगी जब तक ओपस पोस्ट्युमम् (Opus Postumum) में प्रतिपादित कांट के विचारों पर दृष्टिपात न किया जाय। इस ग्रंथ का अधिकांश भाग 1800 ई. के बाद का है। कांट के कुछ व्याख्याकारों के अनुसार इस ग्रंथ के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि कांट के विचारों में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ है। यहाँ हम थियोडर एम. ग्रीन के विचारों का उल्लेख करेंगे जिसका प्रतिपादन उन्होंने धर्म मानव बुद्धि की मर्यादा के अंदर नामक ग्रंथ की भूमिका में किया है। इस ग्रंथ में पूर्वमान्यताओं की चर्चा नहीं है। नैतिकता की पूर्वमान्यताओं को महत्त्व शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा, व्यवहारिक बुद्धि की परीक्षा तथा भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा में दिया गया है। कांट ईश्वर की सत्ता को नैतिकता की पूर्वमान्यता के माध्यम से सिद्ध करता है। एडिक्स, जिसने इस ग्रंथ को

1920 में संपादित किया उसके अनुसार इसका मुख्य कारण यह है कि कांट के दर्शन में पूर्ण शुभ की अवधारणा (सद्गुण के अनुपात में सुख) में सुखवाद का प्रवेश हो गया था तथा कांट अपने नीतिशास्त्र को सुखवाद के सिद्धान्तों से मुक्त करना चाहता था। केवल इतना ही नहीं अपितु सद्गुणी व्यक्ति नैतिकता के निरपेक्ष आदेश के माध्यम से ओपस् पोस्ट्युमम् के अनुसार, 'साक्षात् ईश्वरीय सत्ता के संपर्क में रहता है। मुख्यतः ये दोनों तत्त्व—पूर्वमान्यताओं का अभाव तथा निरपेक्ष आदेश का साक्षात् ईश्वर गर्भित होना व्यवहारिक बुद्धि की परीक्षा की मान्यताओं से भिन्न है।'⁷³

धर्म मात्र बुद्धि की मर्यादा के अन्दर की प्रस्तावना में सिल्वर ने स्क्रेडर के मत का उल्लेख करते हुए एडिक्स के विचारों की अपर्याप्तता को प्रदर्शित किया है। स्क्रेडर के अनुसार इस ग्रंथ में कांट ने विभिन्न स्थलों पर जो टिप्पणीयाँ की हैं उसको कांट के सम्पूर्ण दर्शन के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। यह भ्रान्त धारणा है कि कांट के दर्शन में सुख का कोई स्थान नहीं है। कांट इसे कर्म के अभिप्रेरक रूप में ही अस्वीकार करता है। एडिक्स का मुख्य आक्षेप यह है कि कांट यह प्रतिपादित करता है कि ईश्वर की सिद्धि के लिए कोई साक्ष्य नहीं है। स्क्रेडर के अनुसार, कांटीय दर्शन की यह मान्यता है कि ईश्वर की सिद्धि के लिए सैद्धान्तिक तर्क या साक्ष्य अपूर्ण हैं। अतः यहाँ कोई नयी बात नहीं कही गयी है। जहाँ तक यह कहा गया है कि कांट निरपेक्ष आदेश को ईश्वर-गर्भित मानता है, उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि ओपस् पोस्ट्युमम् में भी कांट ने निरंतर इस तथ्य पर बल दिया है कि ईश्वर, ज्ञान का विषय नहीं होता है; उसका परोक्ष सूत्र नैतिकता के निरपेक्ष आदेश के माध्यम से मिलता है।'⁷⁴

ओपस् पोस्ट्युमम् ग्रंथ प्रकाशित है तथा सर्वसुलभ है।'⁷⁵ 1850 ई. के आस-पास यह विचार तेजी से उभर कर सामने आया कि इस ग्रंथ में कांट के वृद्धावस्था के लक्षण परिलक्षित होते हैं। केनोफिशर के अनुसार, इस ग्रंथ में कुछ भी नूतन नहीं है तथा इसके अतिरिक्त इसमें प्रतिपादित विचारों में कांट के वृद्धावस्था की झलक वर्तमान है।'⁷⁶

इस विवाद में न पड़ते हुए कि इस ग्रंथ को कितना महत्त्व देना चाहिए हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि क्या इस ग्रंथ में कांट की नैतिक मान्यताओं में आमूल परिवर्तन दिखाई पड़ता है? अथवा कांट के दर्शन की कौन सी मूल नैतिक मान्यता है जिसका प्रतिपादन इस ग्रंथ में दिखाई पड़ता है?

कांट के नैतिक दर्शन का सर्वोच्च शिखर नैतिकता का निरपेक्ष आदेश है। उसका स्थान यहाँ भी पूर्णतः यथावत् सुरक्षित रखा गया है। कांट के नैतिक दर्शन का दूसरा मूलमंत्र है कि नैतिकता के अन्य प्रत्ययों (स्वतंत्रता आदि) के लिए नैतिकता का निरपेक्ष आदेश ही कुंजी है। इस कुंजी की महिमा का भी यहाँ यथावत् मण्डन है। अतः स्क़ैडर का मत सही प्रतीत होता है कि कांट के दर्शन की मूल मान्यताओं का यहाँ निषेध नहीं दिखाई पड़ता है।

एक तथ्य अवश्य विचारणीय है कि यहाँ ईश्वर को पकड़ने का प्रयास निरपेक्ष आदेश के माध्यम से बिना पूर्वमान्यताओं के उपयोग के किया गया है। कांट कहता है कि ईश्वर वह सत्ता है, जिसे केवल अधिकार है, लेकिन कोई कर्तव्य नहीं है और वह 'परसन' है 'जो स्वयं पूर्णतः पवित्र है।'⁷⁷ मानव वैश्विक नागरिक के रूप में दैवीय शासन के अन्तर्गत है, अतः अनिवार्यतः दोनों (अधिकार और कर्तव्य) अवस्था में रहता है।⁷⁸ कांट के अनुसार, प्रत्येक निरपेक्ष आदेश में यह पहले से ही अन्तर्निहित है कि सभी मानवीय कर्तव्य आदेशित दैवीय आदेश हैं। कांट ने इस ग्रंथ में भी इस तथ्य पर पुनः पुनः बल दिया है कि स्वतंत्रता का पता निरपेक्ष आदेश से मिलता है। नैतिकता का निरपेक्ष आदेश, स्वतंत्रता से प्रारम्भ नहीं होता है, अपितु स्वतंत्रता के साथ पड़ाव पाता है।⁷⁹ कांट इस तथ्य का पूर्णतः निषेध करता है कि हमें ईश्वर की साक्षात् अनुभूति होती है।⁸⁰

जिनका परिचय मात्र कांट की तीन परीक्षाओं से है, उन्हें ओपस् पोस्ट्युमम् में प्रतिपादित नैतिकता सम्बन्धी विचार अटपटे दिखाई पड़ सकते हैं। लेकिन जिन्होंने धर्म मानव-बुद्धि की मर्यादा के अन्दर, नामक ग्रंथ का थोड़ा भी अध्ययन किया है, उन्हें इस ग्रंथ में धर्म मानव बुद्धि की मर्यादा के विचारों की ही पुष्टि होती हुई दिखाई पड़ती है।

धर्म मानव-बुद्धि की मर्यादा के अन्दर नामक ग्रंथ में कांट ने दो प्रकार के धर्मों का भेद किया है— प्रकाशित धर्म तथा प्राकृतिक धर्म। प्रकाशित धर्म (revealed religion) वह है, जहाँ हम अपने कर्तव्य कर्म को इस प्रकार स्वीकार करते हैं कि यह दैवीय प्रकाशन पर आधारित है। प्राकृतिक धर्म वह है, जहाँ हमें कर्तव्यकर्म का ज्ञान पहले होता है, तथा उसे दैवीय आदेश के रूप में बाद में स्वीकृति देते हैं।⁸⁰ यदि कोई प्राकृतिक धर्म को ही नैतिक दृष्टि से अनिवार्य मानता है तो वह बुद्धिवादी है; यदि दैवीय

प्रकाशना के सिद्धान्त का पूर्णतः निषेध करता है तो वह प्रकृतिवादी है; यदि कोई दैवीय प्रकाशना को स्वीकार करता है लेकिन इसे यथार्थतः स्वीकार करना धर्म के लिए आवश्यक नहीं है— ऐसा मानता है तो वह विशुद्ध—बुद्धिवादी है। यदि कोई मात्र दैवीय प्रकाशना के आधार पर ही धर्म को स्वीकार करता है तो वह अधिप्रकृतिवादी (Super-naturalist) है।

इस वर्गीकरण के आधार पर कांट को विशुद्ध बौद्धिकवादी कह सकते हैं। कांट दैवीय प्रकाशन के मूल्य को स्वीकार करता है, लेकिन उनका वास्तविक मूल्य वहीं तक है जहाँ तक वे बौद्धिक—विश्वास के साथ संगति रखते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से उनका महत्त्व है। इतिहास के विशेष संदर्भ में उन्होंने मानव को सत्य पथ पर चलने में सहायता की। लेकिन दैवीय प्रकाशन, ऐतिहासिक है, आनुभविक है; अतः उसमें सार्वभौमिकता का अभाव है। धर्म एक है, विश्वास अनेक हैं। कांट एक ऐसे नैतिक राज्य की कल्पना करता है कि जहाँ पादरी और सामान्य मानव के मध्य भेद समाप्त हो जायेगा, क्योंकि ईश्वर की वाणी साक्षात् मानव के नैतिक चेतना के विकास से सुनाई पड़ने लगेगी।⁸¹ कांट का स्वर स्पष्ट है। ईश्वर को स्वीकार करने का रास्ता कर्तव्य कर्म के बोध के बाद दिखाई पड़ता है। ओपस् पोस्ट्युमम् में इस मत का कहीं भी खंडन दिखाई नहीं पड़ता है।

भाग (ब)

कांट के अनेक व्याख्याकार यह मानते हैं कि कांट के आलोचनात्मक दर्शन का श्री गणेश शुद्ध—बुद्धि की परीक्षा से होता है तथा अंत भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा में होता है। कांट ने 1790 में भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा में इस प्रकार का मत व्यक्त किया था। भट्टाचार्य जी की व्याख्या में निश्चितता का विचार करते समय इन्हीं तीन परीक्षाओं को ध्यान में रखा गया है। निश्चितता में भेद का प्रसंग सर्वप्रथम व्यवहारिक बुद्धि की परीक्षा की समस्याओं को लेकर उत्पन्न होता है, इसलिए भट्टाचार्यजी ने सर्वप्रथम कृति परीक्षा से ही कांट के दर्शन का तात्पर्य नामक ग्रंथ को प्रारम्भ किया है।

इस विचार का उल्लेख किया गया है कि भट्टाचार्यजी के अनुसार, कांट के लिए प्रमात्मक ज्ञान सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दो प्रकार का है। प्रमात्मक ज्ञान में दो तत्त्व होते हैं— विचार + कुछ अन्य (thinking + something else)। यह 'कुछ अन्य' शुद्ध बुद्धि की परीक्षा में इंद्रिय संवेदन

से गृहीत सामग्री है तथा व्यवहारिक नैतिक ज्ञान के क्षेत्र में स्वयं संकल्प व्यापार है। विचार दोनों में है, अतः कांट के दर्शन में संकल्प अचेतन मन का स्पंद नहीं है जैसा फिक्टे मानता है, अपितु सचेतन स्वतंत्रता है।⁸² कांट के दर्शन में सदिच्छा शुद्ध-व्यवहारिक बुद्धि है।

नैतिकता का विचार करते समय कांट के दर्शन में सचेतनकर्ता की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। भट्टाचार्य जी का विश्लेषण, कांट के विचारों के मूल अभिप्राय के अनुकूल है। भट्टाचार्यजी कहते हैं कि कर्तृज्ञानात्मक कर्म को कृति कहा जाता है। कर्म मात्र में कर्तृत्व ज्ञान नहीं होता है। मैं कर्म कर रहा हूँ, इस ज्ञान में यदि 'मैं क्यों कर रहा हूँ, इसका ज्ञान रहता है तो यह कर्म कर्तृत्व ज्ञानात्मक कर्म कहा जायेगा। कांट कहता है कि सभी प्रकार के कर्मों को करने के लिए यह जानना आवश्यक नहीं है कि वे उचित या अनुचित हैं। भट्टाचार्यजी ने इसका उदाहरण दिया है कि यदि मैं कोई कर्म आनन्द या लीलाबुद्धि से संपादित कर रहा हूँ, तो ऐसे कर्म को कर्तृत्व ज्ञानात्मक कर्म या कृति कहकर नहीं स्वीकारा जा सकता है। कांट कहता है कि नैतिक क्रिया के संबन्ध में पूर्णनिश्चितता होनी चाहिए कि मैं उचित कर्म कर रहा हूँ।⁸³ अतः अन्तर्चेतना का अर्थ है स्वनिर्णय की नैतिक बुद्धि जो अपने मूल्यांकन से विशेषित है।

कांट के नैतिक दर्शन का विवेचन करते समय हिन्दी के ग्रंथों में 'कृति' शब्द का प्रयोग दिखाई नहीं पड़ता है। संकल्प (will) को कभी 'सदिच्छा' कभी 'शुभेच्छा' या 'शुभ संकल्प' या 'पूतेच्छा' आदि से व्याख्यायित किया गया है। भट्टाचार्य जी द्वारा कृति प्रयोग न्याय, वैशेषिक और मीमांसा दर्शन की याद दिलाता है। कृति का अर्थ 'प्रयत्न' है। प्रशस्तपाद ने गुण प्रकरण में कृति का दो प्रकार से वर्गीकरण किया है; (1) जीवनपूर्वक तथा (2) इच्छा-द्वेषपूर्वक। जीवनपूर्वक प्रयत्न के अन्तर्गत वे व्यापार हैं जो कर्ता के ज्ञान के बिना भी जीवन धारण के लिए आवश्यक हैं। आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली में इसे अनैच्छिक क्रिया कह सकते हैं। इच्छा और द्वेष पूर्वक प्रयत्न वहाँ होता है जहाँ हम हित प्राप्ति अथवा अहित के परिहार के लिए विचारपूर्वक प्रवृत्त होते हैं। प्रो. श्री नारायण मिश्र ने अपने 'वैशेषिक दर्शन' नामक पुस्तक में यह संकेत दिया है कि कुछ नव्य-नैयायिक केवल दूसरे प्रकार की कृति को ही मान्यता देते हैं।⁸⁴ इसलिए भट्टाचार्यजी ने भी इसी परिपाटी का अवलम्बन लेते हुए

‘कर्तृज्ञानात्मक कर्म’ को कृति कहा है। यदि हम जीवनपूर्वक प्रयत्न को भी कृति के अंदर मानते हैं, तो कृति का प्रत्यय शापेनहावर के ‘इच्छा (will)’ के प्रत्यय के नजदीक पहुँच जाता है। शापेनहावर कहता है कि संकल्पजनित क्रियाएँ और शारीरिक व्यवहार दो पृथक्-पृथक् आयाम नहीं हैं; वे एक हैं।⁶⁵ शरीर के अंग पूर्णतः मुख्य इच्छाओं के अनुरूप होते हैं, जिनके माध्यम से स्वसंकल्प अभिव्यक्त होता है।

भट्टाचार्यजी के अनुसार कर्तृज्ञानात्मक कर्म को कृति कहा जाता है। इस प्रकार के कर्म में यह बोध छुपा रहता है, मैं कर्म को क्यों कर रहा हूँ। अर्थात् कर्म-प्रवर्तना का अभिप्रेरक तत्त्व क्या है। अभिप्रेरक तत्त्व दो हो सकते हैं—कर्तव्यता की बुद्धि या फल-कामना। यदि प्रथम तत्त्व अभिप्रेरक है, तो प्रवर्तना स्वतंत्र (autonomous) होती है। यदि फल कामना अभिप्रेरक है, तो प्रवर्तना परतंत्र (heteronomous) होती है। जहाँ स्वतंत्र प्रवर्तना होती है वहाँ कर्त्ता को यह पूर्ण निश्चित रहता है कि यहाँ प्रवर्तना फल कामना के कारण नहीं है।

कर्तव्यता की बुद्धि या चाहिए (ought) (भट्टाचार्यजी इसे विधि बुद्धि कहते हैं) को स्वतंत्र संकल्प से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता है; लेकिन जहाँ प्रवर्तना परतंत्र होती है, वहाँ फल का ज्ञान और फल कामना में भेद किया जा सकता है। अतः परतंत्र कृति में आत्मा का शुद्ध-ज्ञान नहीं होता है। परतंत्र कृति में जिस आत्मा की प्रतीति होती है वह कामनायुक्त होती है। अतः उसका ज्ञान शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं है। लेकिन जब हम कर्तव्यबोध से कर्म करते हैं तो कर्तव्यता के बोध में शुद्ध-आत्मा का ज्ञान होता है। ‘चाहिए (ought)’ शुद्ध-आत्मा से भिन्न नहीं है, तथा इसका स्वरूप स्वतंत्र संकल्पात्मक है।

‘चाहिए (ought)’ अंग्रेजी व्याकरण के अनुसार सकर्मक क्रिया है। सकर्मक क्रिया वहाँ होती है जहाँ क्रिया कर्त्ता तक सीमित न रहते हुए, कर्त्ता से किसी अन्य की तरफ अग्रसर होती है या प्रवर्तित होती है। कोई क्रिया अकर्मक होती है जब वह कर्त्ता तक ही अपने आपको सीमित रखती है। संस्कृत-व्याकरण के अनुसार जब फल और व्यापार दोनों एक ही में रहते हैं, तब धातु अकर्मक होती है; जब फल और व्यापार के आश्रय पृथक् पृथक् होते हैं, तो धातु सकर्मक होती है।

भर्तृहरि ने इस विषय पर प्रकाश डाला है कि सकर्मक धातु कब अकर्मक होती है। सकर्मक धातु के अकर्मक होने का कारण, कर्म की अविवक्षा भी हो सकती है।⁶⁶ जहाँ 'चाहिए' का प्रयोग केवल 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य कर्म करने के अर्थ में हो रहा है, वहाँ 'चाहिए' का फल और व्यापार का आश्रय कर्त्ता ही है। लेकिन जब हम फल कामना से कर्म करते हैं तो व्यापार कर्त्ता में होता है, लेकिन फल कर्म में विवक्षित रहता है। जहाँ 'कर्तव्य कर्म' की दृष्टि से कर्म विवक्षित है, वहाँ 'चाहिए' कर्त्ता से भिन्न नहीं है। इस दृष्टि से भट्टाचार्यजी के मत को समझा जा सकता है कि वह क्यों 'चाहिए' को आत्मा से भिन्न नहीं मानते हैं। इसी रहस्य की तरफ भट्टाचार्य जी ने संकेत दिया है जब वह कहते हैं कि 'कांट के मत में कृति-निरपेक्ष आत्मा का ज्ञान नहीं होता है।' अतः कर्तव्य कर्म के संपादन में ही शुद्ध-आत्मा तथा स्वराज्य- नियम रूप स्वतंत्रता का ज्ञान होता है।

कांट के दर्शन का तात्पर्य के अंग्रेजी अनुवादक ने कृति का अर्थ संकल्प (will) और कर्तव्य (duty) दोनों अर्थों में लिया है।⁶⁷ कांट द्वारा प्रतिपादित इति कर्तव्यता का सिद्धान्त भारतीय दर्शन की दृष्टि से प्रभाकर के कृति संबन्धी मत की याद दिलाता है। प्रभाकर मत की विशेषता है कि यह मत इष्ट साधनता को बिल्कुल महत्त्व नहीं देता है जैसा कि नैयायिक मानते हैं। न्याय मत की विशेषता है कि इस मत में कर्म में प्रवृत्ति के लिए केवल इच्छा को ही नहीं, अपितु द्वेष को भी प्रेरक माना जाता है। कांट के मत में इस प्रकार की स्थिति नहीं बनती है क्योंकि प्रवृत्ति चाहे इच्छा के कारण हो या द्वेष के कारण हो-दोनों प्रसंगों में निरपेक्ष आदेश का सार्वभौमिक आकार हमारा मार्गदर्शक बनने में सक्षम है। कांट का मत प्रभाकर के इस मत के साथ साम्यता रखता है कि नैतिक कर्म इष्टसिद्धि के लिए नहीं, वरन् विशुद्ध कर्तव्यपालन के लिए किया जाता है। प्रभाकर मत और न्यायमत का भारतीय नीतिशास्त्र की दृष्टि से सुन्दर विवेचन प्रो. नित्यानन्द मिश्र ने अपने नीतिशास्त्र नामक ग्रंथ में किया है। जिज्ञासु पाठकों को इस विषय में उसे अवश्य देखना चाहिए।

भट्टाचार्यजी के अनुसार कर्म को कर्तव्य की दृष्टि से संपादित करते समय इस प्रकार का बोध भी रहता है कि यह कर्म परतंत्र प्रवर्तना या फलेच्छा आदि के कारण नहीं है। क्योंकि ज्योंहि अपने कर्तव्य सूत्र (maxim) को निरपेक्ष आदेश रूप सार्वभौमिक आकार में कसने का प्रयास

करते हैं, उसी क्षण का उसका एक आयाम कर्तव्य कर्म की दिशा निर्धारित करता है, तथा इसके साथ ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि इस प्रवर्तना का अभिप्रेरक तत्त्व परतंत्र नहीं है। जब हम परतंत्र प्रवर्तना से कर्म करते हैं तो इस प्रकार निरपेक्ष नैतिक आदेश को परखने के लिए उपयोग में नहीं लाते हैं; अतः परतंत्र प्रवर्तना में स्पष्टतः स्वतंत्र प्रवर्तना का बोध नहीं भी हो सकता है। भट्टाचार्य की दृष्टि से कांट की इस प्रकार की यह दृष्टि अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि एक तरफ इसमें आत्मा के विषय के रूप में ज्ञान होने का बीज है तो दूसरी तरफ इसमें नैतिकता के निरपेक्ष आदेश के सम्मान के लिए भी बीज मिलता है।

भट्टाचार्यजी का मुख्य ध्यान निश्चितता के प्रकारों के विवेचन पर है। सामान्यतः प्रमात्मक बोध के अतिरिक्त अन्य प्रकार की निश्चितता को स्वीकार नहीं किया जाता है। लेकिन नैतिकता के क्षेत्र में मननात्मक निश्चितता (contemplative certainty) का भी प्रसंग उठता है। जब आत्मा का अ-विषय के रूप में बोध होता है तो वहाँ ज्ञानात्मक निश्चितता है, तथा जब आत्मा का विषय के रूप में बोध होता है तो वहाँ मननात्मक निश्चितता है। मननात्मक निश्चितता में आत्मा विषय रूप में इसलिए बोधित होती है कि यहाँ विशुद्ध नैतिकता के पालन में हम नैतिकता के निरपेक्ष आदेश के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हैं, सम्मान प्रदर्शित करने के व्यापार में आत्मा को विषय रूप में ही लेना पड़ता है (निरपेक्ष आदेश स्वतंत्रप्रवर्तना में आत्मा से अभिन्न है) क्योंकि सम्मान प्रदर्शित करने के लिए किंचित् भेद आवश्यक है।

कांट का मूल सिद्धान्त है कि कर्तव्य कर्म अनिवार्यतः नैतिकता के सार्वभौम नियम के प्रति सम्मान के कारण सम्पन्न होते हैं। जब नैतिकता का सार्वभौम नियम हमारे कर्तव्यकर्म का अभिप्रेरक बनता है तो वह हमारी मनमानी ऐन्द्रिक वासनाओं और मानसिक दुर्बलताओं के विरुद्ध में भी कार्य करता है। इन्द्रिय वासनाओं और मानसिक भावनाओं की संतुष्टि सुख कहला सकती है। इसे स्वार्थ कहा जायेगा जब हम इस प्रकार के सुख को अधिक मात्रा में चाहते हैं, या दंभ (self-conceit) कहा जायेगा यदि नैतिकता के निरपेक्ष आदेश के साँचे में कसे बिना ही इसे स्वीकार किये हुए हैं। नैतिक नियम, स्वार्थमूलक वासनाओं पर अंकुश लगाने के कारण तथा दर्प को विनष्ट करने के कारण सम्मान का विषय बनता है।⁶³ यह एक दृष्टि

से हमें शर्मिन्दा करता है (क्योंकि हमारी वासनाओं तथा दर्प को स्पष्ट कर देता है), लेकिन दूसरी दृष्टि से यह सम्मान का विषय बनता है क्योंकि यह हमारे महत्त्व को हमारी दृष्टि में उठाता है। अतः नैतिकता के नियम के प्रति सम्मान की संवेदना मनोवैज्ञानिक संवेदना नहीं है (क्योंकि नैतिक नियम संवेदनाओं पर अंकुश लगाता है), अपितु अनुभव निरपेक्ष संवेदना स्वरूप हैं तथा इससे जो संतुष्टि मिलती है उसे ऐन्द्रिक संतुष्टि से भिन्न बौद्धिक संतुष्टि (rational self-contentment) कह सकते हैं या भट्टाचार्यजी के शब्दों में आत्म-प्रसाद कह सकते हैं।

भट्टाचार्य जी मानते हैं कि क्रियात्मक संकल्प से आत्मज्ञान भिन्न नहीं है, आत्मज्ञान से विधिज्ञान भिन्न नहीं है तथा विधिज्ञान या कर्तव्यज्ञान से इति कर्तव्यता भिन्न नहीं है। अतः कृत्यात्मक शुद्ध आत्मा और कर्तव्य रूप विधि में कोई भेद नहीं है।

लेकिन जहाँ स्वतंत्रकृति या संकल्प में शुद्धता का ज्ञान, आत्म-सम्मान रूपी अनुभवनिरपेक्ष संवेदना के साथ मिला रहता है, वहाँ स्वतंत्र आत्मा का बोध मिश्र ज्ञान कहा जा सकता है। यहाँ आत्मा एक ही साथ शासिता और शासित दोनों रूपों में अभिव्यक्त होती है। हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं कि कांट ने कृति या संकल्प की दो रूपों की कल्पना की है— विधायिका रूप संकल्प शक्ति (wille) तथा चयनिका रूप संकल्पशक्ति (willkur)। विधायिका रूप संकल्पशक्ति शुद्ध-व्यवहारिक बुद्धि है, निरपेक्ष आदेशरूप है, जिसे भट्टाचार्य जी शुद्ध आत्मा कहते हैं। चयनिका रूप संकल्पशक्ति चयन की दृष्टि से स्वतंत्र है, यद्यपि यह अपने मूल स्वरूप में उससे अभिन्न है। लेकिन चयन की प्रक्रिया में इसका व्यापार कभी मूल स्वरूप के अनुकूल होता है तथा कभी नहीं होता है। इसका व्यापार मूल स्वरूप के अनुकूल उस समय नहीं होता है जब यह निरपेक्ष आदेश से विसंगति रखने वाले किसी सूत्र को अपना मार्गदर्शक मंत्र मान लेती है या आत्मप्रेम या स्वपूर्णता के अहंकार के कारण या इंद्रिय-दबावों के कारण अपना मार्गदर्शकसूत्र निरपेक्ष आदेश के विपरीत पृष्ठभूमि से चयन करती है। लेकिन जब यह निरपेक्ष आदेश के साथ संगति रखते हुए तथा उसका सम्मान करते हुए दास की भाँति मार्गदर्शक सूत्र को पकड़ती है तो यह अपने स्वातंत्र्य की यथार्थ अनुभूति करती है। अतः विशुद्ध स्वातंत्र्य की अवस्था में संकल्प शक्ति शासिका और शासिता दोनों रूपों में अभिव्यक्त

होती है। शासिताभाव का रहस्य है निरभिमानत्व तथा प्रभुभाव का रहस्य आत्मप्रसाद में है। निरभिमान आत्मप्रसाद का ही नाम आत्मसम्मान है। आत्मसम्मान के दो रूप हैं— निरभिमानत्व और आत्मप्रसाद, तथा स्वातंत्र्य की अर्थार्थ अनुभूति के भी दो रूप हैं— स्वातंत्र्याभिमान और स्वातंत्र्य विलास या धर्माभिमान तथा धर्मविलास क्योंकि यथार्थ स्वातंत्र्य, कर्तव्य रूप धर्म के अनुपालन में है। आत्मा आत्मज्ञान में अविषयरूप होती है; लेकिन सम्मान की संवेदना में यह विषय बनती है तथा इसका मननात्मक बोध ही होता है। विषय बोध का कारण अनुभव निरपेक्ष आत्म सम्मान की संवेदना है। यह मनोवैज्ञानिक संवेदना नहीं है। अतः भट्टाचार्यजी इसे कल्पनात्मक संवेदना कहते हैं। मननात्मक निश्चितता ज्ञान नहीं है, तथा इसे ज्ञान के रूप में स्वीकार करने की स्थिति कर्तव्य के अशुद्ध बोध से निष्पन्न होती है, जिसका कारण नैतिक दर्प (moral pride) हो सकता है। नैतिक दर्प की तरह नैतिक विलास (moral enjoyment) भी एक धर्म प्रतिकूल वेदना है। नैतिकता के अनुपालन में जो संतुष्टि मिलती है उसे कांट बौद्धिक आत्मा की संतुष्टि (rational self contentment) कहता है। नैतिक विलास की स्थिति वह होती है, जहाँ हम अपने को नियंत्रित न रखते हुए सुख में निमग्न रहते हैं। भट्टाचार्य जी के अनुसार नैतिक दर्प में जहाँ आत्मा का मनन होता है, वहाँ हम ज्ञान मानते हैं; नैतिक विलास में जहाँ आत्मा का ज्ञान होता है, वहाँ मनन मानते हैं।

आत्मा की स्वतंत्र कारणता दो प्रकार के कार्यों को जन्म देती है— प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक। प्राकृतिक कार्य कालिक क्षेत्र में घटित होता है। उदाहरण के लिए कर्तव्य प्रेरणा से प्रेरित होकर जब हम किसी को कर्ज लौटाते हैं तो प्राकृतिक कार्य 'कर्ज चुकता' के रूप में घटित होता है। अप्राकृतिक कार्य आत्मा की अवस्था प्राप्ति से संबन्धित है। यह प्राप्ति पुण्य के रूप में होती है। यह अपुण्य के रूप में तब होगी जब हम कर्तव्य कर्म नहीं करेंगे। यह प्राप्ति यद्यपि इच्छित नहीं होती है, लेकिन इससे इनकार नहीं किया जा सकता है कि आत्मा में एक शुभ धर्म इसके कारण प्रतिष्ठित होता है। आत्मा पूर्ण होने के लिए सदगुण निरंतर एकत्रित करती रहती है। अतः इस सदगुण की निश्चितता से दो अन्य निश्चितताओं का रहस्य मिलता है—जगत् अनन्तकालात्मक है और आत्मा अनन्तकाल—व्यापी है। यह भी निश्चित होता है कि पूर्ण शुभ में सदगुण के समानुपाती सुख भी होना चाहिए, लेकिन यह आत्मा के कारण नहीं, अपितु ईश्वर के कारण संभव

होता है। इस प्रकार हम पाते हैं कि नैतिक भावना से तीन मननात्मक निश्चितताएँ अप्राकृतिक तत्त्वों के विषय में होती हैं— आत्मा की स्वतंत्र कारणता, आत्मा का अमरत्व तथा ईश्वर की सिद्धि।

‘सद्गुण के अनुरूप अप्राकृतिक आत्मकल्याण की स्थिति’ में विश्वास, श्रद्धा है। आत्मसम्मान परिपूर्ण होकर श्रद्धारूप हो जाता है। कर्तव्यकर्म करने में जो एक अभूतपूर्व संतुष्टि होती है, उसे बौद्धिक आत्म-प्रसाद कहा जा सकता है। यह सुख-दुःख से परे की अवस्था है। अहंकार वश जहाँ मनन होता है वहाँ हम ज्ञान मानते हैं तथा जहाँ ज्ञान होता है वहाँ हम मनन मानते हैं तो महान अनर्थ की प्राप्ति होती है। ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक ज्ञान श्रद्धात्मक होगा तथा धार्मिक ज्ञान—ईश्वर, आत्मा आदि का ज्ञान यथार्थ होगा। इस प्रकार धार्मिक अन्धविश्वास तथा हठवादिता के साथ-साथ वैज्ञानिक ज्ञान को भी संशयात्मक रूप में ही स्वीकार करना पड़ेगा। अतः प्रमात्मक बोध और मननात्मक बोध की सीमा और क्षेत्र को समझना, कांट के दर्शन की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। कृति परीक्षा या स्वतंत्र संकल्प की परीक्षा से यह स्पष्ट है कि विषय सांवृतिक दृष्टि से ही यथार्थ है। यदि वे परमार्थतः यथार्थ होते तो स्वतंत्र कारणता रूप संकल्प के माध्यम से प्राकृतिक अथवा अप्राकृतिक कर्मों का संपादन संभव नहीं होता। लेकिन इस विषय में युक्तियुक्त निश्चय प्रमाण के द्वारा परीक्षा के पश्चात् ही किया जा सकता है। अतः कृति परीक्षा के बाद, ज्ञान परीक्षा की चर्चा भी आवश्यक हो जाती है। कृति-परीक्षा का उपसंहार करते हुए भट्टाचार्य जी कहते हैं, “अतएव धर्म-परीक्षा या कृति-परीक्षा से अगर विषय की आभासात्मक वस्तुता का निश्चय जागता भी है तो भी यह निश्चय भ्रम है या नहीं इस बात का निर्णय करने के लिए धर्म-निरपेक्ष स्वतंत्र ज्ञान-परीक्षा प्रयोजनीय है।”

परिशिष्ट

आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य—विरचित कांट के दर्शन का तात्पर्य का प्रथम खण्ड—‘कृति परीक्षा’ या ‘धर्म परीक्षा’

अनुवादक— प्रो. मुकुन्द लाठ

सूचना

कांट के मत में निश्चयमात्र ही ज्ञान नहीं होता, ज्ञान-भिन्न निश्चय भी होता है। अन्य (ज्ञान-भिन्न) निश्चयों में ‘यह ज्ञान है’ ऐसा भ्रम होता है और निश्चय से भिन्न किसी किसी प्रत्यय में भी ‘यह निश्चय है’ ऐसा

भ्रम होता है। ऐसे भ्रम को दूर करने के लिये निश्चय प्रत्यय की विस्तार से परीक्षा प्रयोजनीय है। कांट के दर्शन में निश्चय-परीक्षा पर विचार ही प्रधान है। इसीलिये इस दर्शन को परीक्षा-दर्शन (क्रिटिकल फिलॉसफी) का नाम दिया जाता है।

कांट ने अव्यक्त और व्यक्त इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों को निश्चय के अंतर्गत रखा है। साधारणतः व्यक्त पदार्थ के निश्चय को ही निश्चय कहा जा सकता है : ऐसे निश्चय की परीक्षा के भीतर से ही अव्यक्त पदार्थ के निश्चय का प्रसंग उठता है। कांट के मत में वस्तु-विषयक निश्चय मूलतः दो प्रकार का होता है : ज्ञान-निश्चय और ज्ञानेतर निश्चय। वे प्रत्यक्ष-योग्य विषय के ज्ञान को ही साधारणतः ज्ञान कहते हैं। पर उन्होंने स्वाधीन-कृति-स्वरूप अविषय आत्मा के ज्ञान को भी स्वीकार किया है। उनके मत में ज्ञानेतर निश्चय भी दो प्रकार का होता है। एक प्रकार उसी कृत्यात्मक आत्मज्ञान के गर्भ में रहता है, दूसरा प्रकार कृति-निरपेक्ष वेदनात्मक (भावनात्मक) कल्पना से जन्म लेता है। कांट की निश्चय-परीक्षा ज्ञान-परीक्षा, कृति-परीक्षा और वेदना-परीक्षा, इन तीन भागों में विभक्त है। अपनी ज्ञान-परीक्षा में उन्होंने प्रधानतः विषय-ज्ञान पर विचार किया है। कृत्यात्मक आत्मज्ञान और तत्-सापेक्ष ज्ञानेतर निश्चय पर विचार कृति-परीक्षा पर लिखे ग्रंथ में हुआ है। वेदना-परीक्षा पर लिखे ग्रंथ में कल्पनाजन्य ज्ञानेतर निश्चय पर विचार किया गया है।

कृतिपरीक्षा या धर्मपरीक्षा

ज्ञानेतर निश्चय के बारे में, 'यह ज्ञान है', ऐसा जो भ्रम होता है, उसका मूल और उसके निरास का प्रयोजन कृति-परीक्षा से ही समझा जा सकता है।

कर्तृज्ञानात्मक कर्म को 'कृति' कहा जाता है। यहां 'कर्म' शब्द का अर्थ है, 'वह क्रिया जिसकी प्रतीति क्रिया-कल्पना के परिणाम-रूप में होती है।' कर्ममात्र में कर्तृत्वज्ञान नहीं होता। 'मैं अपनी क्रिया-कल्पना को क्रिया में परिणत कर रहा हूँ, और इस परिणति का कारण मैं हूँ, ऐसे ज्ञान को कर्तृत्वज्ञान कहा जाता है। 'मैं कर्मकर रहा हूँ, इस ज्ञान में, 'मैं क्यों कर रहा हूँ, अर्थात्, 'किस प्रयोजन से कर रहा हूँ, इस बात का ज्ञान रहता है।' 'क्यों कर रहा हूँ, यह ज्ञान दो प्रकार का होता है। 'कर्म के अतिरिक्त इष्टफल के लिये कर रहा हूँ' यह एक प्रकार का ज्ञान है। 'कर्म इष्ट-साधन के लिये

नहीं अपने आप में इष्ट है' एक दूसरे प्रकार का ज्ञान है। कर्म जिस इष्ट-बुद्धि या इष्टसाधन-बुद्धि से किया जा सकता है, उसे कर्म की प्रवर्तना कहा जाता है। कृति-प्रवर्तक इष्टसाधन-बुद्धि को फल-तंत्र प्रवर्तना कहा जा सकता है। कृति-प्रवर्तक इष्टसाधन-बुद्धि को फल-तंत्र को प्रवर्तना कहा जा सकता है और कृति-प्रवर्तक इष्ट-बुद्धि को स्वतंत्र प्रवर्तना कहा जा सकता है। स्वतंत्र प्रवर्तना से की गई कृति स्वतंत्र होती है। फल-तंत्र प्रवर्तना से की गई कृति को परतंत्र-कृति की आख्या दी जा सकती है। स्वतंत्र प्रवर्तना में यह स्फुट निषेध-प्रतीति रहती है कि 'यह कृति फल-तंत्र नहीं है।' स्वतंत्र-कृति 'यह फल-तंत्र नहीं है' इस प्रतीति के बिना नहीं होती। लेकिन फल-तंत्र प्रवर्तना में स्वातंत्र्य-निषेध की स्फुट प्रतीति नहीं भी हो सकती है। फल-तंत्र प्रवर्तना में यह ज्ञान कि 'कृति परतंत्र है, फल-कामना कृति से अतिरिक्त पदार्थ है', यह ज्ञान स्वतंत्र-कृति की अपेक्षा रखता है। जिस कर्त्ता को स्वातंत्र्य-ज्ञान हुआ न हो, उसे यह ज्ञान भी नहीं होता कि 'फल-कामना कृति से अतिरिक्त पदार्थ है' : अर्थात् उसे यह ज्ञान नहीं होता कि 'काम आत्मा का पर या शत्रु है'। इस अर्थ में कर्त्ता के स्वातंत्र्य-ज्ञान और पारतंत्र्य-ज्ञान को परस्पर सापेक्ष कहा जा सकता है।"

'कृति अपने आप में इष्ट है, इसलिये नहीं कि किसी इष्ट की साधन है', यह प्रतीति कर्त्तव्यता या विधि ज्ञान के बिना किसी दशा में नहीं होती। अगर कर्म केवल आनंद या लीला बुद्धि से संभव हो तो ऐसे कर्म को कर्त्तृत्वज्ञानात्मक कर्म या 'कृति' कहकर नहीं स्वीकारा जा सकता। इस कर्म को मैं कर्त्तव्य समझकर कर रहा हूँ, फल-कामना-वर्जित विधिबुद्धि से कर रहा हूँ, यह प्रतीति कृति के अपने आप में इष्ट होने की प्रतीति है। कृति के दो प्रवर्तक माने जा सकते हैं : फलकामना और विधि-बुद्धि। विधि की वस्तुता को विधि-बुद्धि से अलग नहीं जाना जा सकता, इसलिये विधि को ही स्वतंत्र-कृति का प्रवर्तक कहा जा सकता है। पर फल का ज्ञान फल-कामना से अलग होता है, इसलिये परतंत्र कृति का प्रवर्तक फल को नहीं फल-कामना या काम को कहना चाहिये। विधि और काम इन दोनों को कृति प्रवर्तक कहा जा सकता है।

विधि का निश्चय और स्वतंत्र्य-कृति का निश्चय, ये दोनों परस्पर-सापेक्ष हैं। कांट के मत में इन दोनों निश्चयों को ज्ञान कहा जा सकता है, एक ही ज्ञान के दो रूप कहिये, पर यह ज्ञान कृतितंत्र आत्मज्ञान

है, कृति-निरपेक्ष विषय-ज्ञान नहीं। विधिपालन-रूप स्वतंत्र-कृति में ही कृत्यात्मक शुद्ध आत्मा का और विधि का युगपत् ज्ञान होता है। कांट के मत में कृति-निरपेक्ष आत्मा का ज्ञान नहीं होता। परतंत्र कृति में जिस आत्मा की प्रतीति होती है वह उस आत्मा का ज्ञान है जो काम से अभिन्न होती है, वह ज्ञान शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं है। स्वतंत्र-कृति में ही कृति-स्वरूप शुद्ध आत्मा का ज्ञान होता है। कृति का स्वातंत्र्य विधि-ज्ञान में ही होता है। परतंत्र-कृति में यह निषेध-ज्ञान तो हो सकता है कि 'यह विधि-प्रवर्तित नहीं है', पर इस निषेध-ज्ञान को विधि का ज्ञान नहीं कहा जा सकता। 'मैं जो कर्म कर रहा हूँ, उसे कर्तव्य जानकर नहीं कर रहा', इस ज्ञान में कर्तव्यता का ज्ञान नहीं होता, वेदना-निश्चय मात्र होता है। आत्मा में जो पाप की या अशुद्धि की अनुभूति होती है—आत्मा के दण्ड या दुःख योग्य होने का जो वेदना-रूप पूर्वाभास होता है—वही वेदना-रूप पूर्वाभास इस औपचारिक ज्ञान के रूप में आभासित होता है कि विधि मानो लंघित हो रही है या उसका पालन नहीं हो रहा। शुद्ध आत्मा का ज्ञान या विधि-ज्ञान, यह विधि-पालन-रूप स्वतंत्र-कृति में ही होता है। इस आत्मा से आत्मज्ञान भिन्न नहीं है, आत्मज्ञान से विधिज्ञान भिन्न नहीं है, और विधिज्ञान से विधि भिन्न नहीं है। अतएव कहा जा सकता है कि कृत्यात्मक शुद्ध आत्मा से विधि का कोई भेद नहीं है।

कहा जा चुका है कि परतंत्र-कृति में अगर यह प्रतीति हो भी कि 'यह कृति विधि-प्रवर्तित नहीं है', तो भी यह प्रतीति विधिज्ञान नहीं होती। स्वतंत्र-कृति में यह प्रतीति अवश्यभावी है कि 'यह कृति काम-प्रवर्तित नहीं है', और तब यह मानना पड़ता है कि काम-निषेध की प्रतीति प्रवर्तक-काम का ज्ञान होती है : विधि-स्वरूप आत्मा के ज्ञान में उस आत्मा का ज्ञान भी होता है जो काम से अभिन्न है। विधिपालन में उसी आत्मा के दोनों रूपों का ज्ञान होता है। एक ही आत्मा क्यों ऐसे दो रूपों में प्रकाशित होती है, यह हमारे बोध के परे है, किन्तु इस बात में कोई संशय का अवकाश नहीं कि विधि-पालन में ऐसा प्रकाश जागता है। विधि-स्वरूप आत्मा और काम-रूप आत्मा के भेदाभेद ज्ञान में यह अनुभव होता है कि आत्मा एक साथ ही शासित और शासिता है, आदिष्ट और आदेष्टा है।

विधि-पालन और स्वतंत्र-कृति, इनमें विधि ही प्रवर्तक होती है। हमारे जानते हुए विधि और काम इन दो प्रवर्तकों का मिश्रण नहीं हो सकता।

पर किसी किसी स्थल पर 'विधि-प्रवर्तना' में विधिज्ञान के साथ अनजाने में या प्रच्छन्न भाव से काम संश्लिष्ट हो गया है', इस बात का अनुमान किया जा सकता है। पर ऐसे प्रच्छन्न काम के रहते हुए भी कृति के स्वातंत्र्य का अपलाप नहीं होता। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस बात से आत्मा में कोई अशुद्धि नहीं आती। यहाँ समस्या यह उठती है कि कृत्यात्मक आत्मा ही शुद्ध आत्मा है तो इसमें अशुद्धि की संभावना कैसे बनती है।

यहाँ कहा जा सकता है कि विधि और स्वतंत्र-कृति, ये वस्तु के रूप में एक होते हुए भी ज्ञेयता में भिन्न है। विधि शुद्ध आत्मा का स्वरूप है, अशुद्ध आत्मा या कामात्मा की तुलना में यह उपलब्धि होती है कि शुद्ध आत्मा स्वतंत्र-कृति-स्वरूप है। काम-वर्जन की क्रिया से निरूपित जो शुद्ध आत्मा है वही स्वतंत्र-कृति के रूप में ज्ञेय होती है। तो, शुद्ध आत्मा की विधि-स्वरूपता के ज्ञान को शुद्ध ज्ञान और उसके स्वातंत्र्य-ज्ञान को मिश्र या कामापेक्ष ज्ञान कहा जा सकता है। एक ही शुद्धात्मा की ज्ञेयता के ये प्रकार हैं, यह स्वीकार करना पड़ता है। स्वातंत्र्य-ज्ञान में यह अनुभव जागता है कि आत्मा एक ही साथ शासिता भी है और शासित भी। यह अनुभूति ज्ञान नहीं है, वेदना विशेष है। पर वेदना होते हुए भी यह अनुभूति सुख-दुःख रूप प्राकृत वेदना से नितांत भिन्न है। इस अप्राकृत वेदना का नाम है, आत्मसम्मान। आत्मसम्मान में शासित आत्मा अपने को भृत्य के रूप में अनुभव करती है और शासक आत्मा अपने को प्रभु के रूप में। भृत्यभाव का अर्थ है निरभिमानत्व। प्रभुभाव का अर्थ अभिमान नहीं है, आत्मप्रसाद है। निरभिमान आत्मप्रसाद का ही नाम आत्मसम्मान है।

यों, स्वतंत्र-कृति में शुद्धात्मा का ज्ञान आत्मसम्मान-रूपी वेदना के साथ संश्लिष्ट रहता है; इसलिये विधिज्ञान-रूप आत्मा के शुद्ध ज्ञान की अपेक्षा से स्वतंत्र-आत्मा के ज्ञान को मिश्र ज्ञान कहा जा सकता है। पर ज्ञान के रूप में मिश्र ज्ञान को अशुद्ध या दोष-युक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आत्मसम्मान-रूप वेदना कृति-प्रवर्तक काम की तरह शुद्धात्मा की पर या शत्रु नहीं है। पर यह भी नहीं कह सकते कि ये वेदना स्वतंत्र-कृति की प्रवर्तक होती है। स्वतंत्र-कृति की प्रवर्तक विधि है— या विधिज्ञान। आत्मसम्मान के लिये यही कहना ठीक है कि वह स्वतंत्र-कृति के साथ ही जागता आत्मप्रसाद है, या ऐसी कृति का अप्राकृत परिणाम है। यों कृति और वेदना में जो भेदाभेद बनता है, उसी के कारण यह आभास होता है कि यह

वेदना मानो कृति-प्रवर्तक है। तो, स्वातंत्र्य-प्रत्यय में काम-वर्जन रूप जो कामापेक्षा रहती है, यह अशुद्धि न सही, पर उसे अशुद्धि का बीज या अवकाश कहा जा सकता है। इस अवकाश में जब आत्मसम्मान-रूप वेदना रहती है तब अशुद्धि का बीज अंकुर नहीं पकड़ता, उल्टे बीज की शक्ति क्षीण होती रहती है। आत्मसम्मान ही स्वातंत्र्य की यथार्थ अनुभूति है, पर स्वातंत्र्य की अयथार्थ या प्रतिकूल अनुभूति भी होती है। ऊपर कहा गया है कि आत्मसम्मान के दो रूप हैं : निरभिमानत्व और आत्मप्रसाद। स्वातंत्र्य की अयथार्थ अनुभूति के दो रूप जाने जाते हैं : स्वातंत्र्याभिमान और स्वातंत्र्यविलास। कांट के मत में स्वतंत्र-कृति या विधि का पालन ही धर्म है। यों, इन दो अनुभूतियों के ये दो नाम दिये जा सकते हैं : धर्माभिमान और धर्मविलास। अब, यह ठीक है कि इन दो के रहने पर कृति के स्वातंत्र्य का लोप नहीं होता, पर इनसे आत्मा का अशुद्धि-बीज अशुद्धि के रूप में व्यक्त हो पाता है। इस अशुद्धि के कारण ही स्वतंत्र-कृति में विधि-प्रवर्तना के साथ प्रच्छन्न भाव से काम-प्रवर्तना संश्लिष्ट हो जाती है। यों आत्मा में व्यक्त होती अशुद्धि को काम या अधर्म का सूक्ष्मरूप कहा जा सकता है।

आत्मसम्मान-रूपी स्वातंत्र्य-रूपी स्वातंत्र्य-अनुभूति में ही धर्माभिमान और धर्मविलास, ये स्वातंत्र्य की प्रतिकूल अनुभूति और आत्मा की अशुद्धि के रूप में व्यक्त होते हैं। हम कह चुके हैं कि ज्ञानेतर निश्चय में यह भ्रम होता है कि 'यह ज्ञान है'। स्वातंत्र्य की यथार्थ अनुभूति में यह समझ जागती है कि स्वातंत्र्य की अयथार्थ अनुभूति ही इस भ्रम की जड़ है, और यह भी कि इस भ्रम का निरास होना चाहिये। हम यह मान चुके हैं कि स्वातंत्र्य और विधि, इनका ज्ञान होता है। इस ज्ञान से संश्लिष्ट जो शुद्ध वेदना है उससे ज्ञानेतर-निश्चय उद्भूत होता है, और उसमें यह प्रतीति भी होती है कि इस निश्चय के बारे में जो यह भ्रम है कि 'यह ज्ञान है', यह भ्रम अशुद्ध वेदना-प्रसूत है।

वेदना ही कल्पना का मूल है। शुद्धात्म-वेदना-प्रसूत कल्पना में निश्चय रूप लेता है। अन्य वेदना-प्रसूत कल्पना में कल्पित पदार्थ का निश्चय नहीं होता। निश्चात्मक कल्पना को 'ध्यान' कहा जा सकता है। स्वतंत्र-कृति या धर्म की अनुभूति शुद्ध आत्मा की वेदना होती है। शुद्धात्मक-वेदना कृति-निरपेक्ष भी हो सकती है, पर इस वेदना से जो ध्यान-निश्चय जन्म लेता है, उसके बारे में यह भ्रम नहीं होता कि 'यह ज्ञान

है; वह ज्ञान है या नहीं, यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। पर धर्मानुभूति-जन्य ध्यान-निश्चय के बारे में यह भ्रम हो सकता है कि 'यही ज्ञान है'। इसलिये ध्यान-निश्चय का प्रसंग पहले ही उठता दिखता है। आत्मसम्मान-रूप धर्मानुभूति में ही यह स्फुट प्रतीति उद्भूत होती है कि ध्यान-निश्चय ज्ञान नहीं है, और यह भी कि उसके बारे में जो यह भ्रम होता है कि 'यह ज्ञान है', इस भ्रम का मूल धर्माभिमानादि-रूप अशुद्ध धर्मानुभूति में है।

विधिपालन-रूप स्वतंत्र-कृति को धर्म भी कह सकते हैं, और धर्मज्ञान भी। तो, धर्म और धर्मज्ञान, ये दोनों एक ही पदार्थ हैं। पर धर्मज्ञान और धर्म-वेदना में भेदाभेद का बोध होता है। वेदना यहाँ ज्ञानात्मक होती है, पर ज्ञान वेदनात्मक नहीं होता। यह जो वेदनाजन्य कल्पना रूप लेती है कि धर्म-वेदना धर्मज्ञानात्मक है, यह कल्पना अवस्तु-कल्पना नहीं है, निश्चयात्मक ध्यान है। यह निश्चय ज्ञान इसलिये नहीं कहला सकता क्योंकि ज्ञान यहाँ वेदनात्मक नहीं होता। आत्मज्ञान हमें धर्मज्ञान में ही होता है, धर्म-वेदना से आत्म-विषयक ध्यान-निश्चय होता है। धर्म-स्वरूप आत्मा निश्चयेन ज्ञेय वस्तु भी है और ध्येय वस्तु भी। पर आत्म-ज्ञान में आत्मा अविषय-भाव लिये प्रतीत होती है, जबकि आत्म-ज्ञान में आत्मा विषय-भाव लिये प्रतीत होती है, जबकि आत्म-ध्यान में आत्मा विषय-भाव लिये प्रतीत होती है। धर्म की यथार्थ या अनुकूल वेदना में आत्मा की ज्ञेयता और ध्येयता के भेद की उपलब्धि होती है। पर धर्म की प्रतिकूल वेदना में यह भेदाभेद मिट जाता है, और यह भ्रम जागता है कि ध्येय आत्मा ज्ञेय अविषय है, अथवा यह कि ज्ञेय आत्मा ध्येय विषय है। भ्रम के इन दो रूपों को यथाक्रमेण धर्माभिमान और धर्म-विलास का आलंबन कहा जा सकता है।

'मैं विधि-पालन' कर रहा हूँ इस निश्चय को हम 'ज्ञान' कह चुके हैं। पर यह निश्चय कि 'स्वतंत्र-कृति के द्वारा क्रिया या क्रिया-फल-रूप विषय साधा जाता है', यह ज्ञान नहीं कहला सकता—दूसरे शब्दों में, यह निश्चय कि 'अविषय आत्मा-अनात्म-परिणाम का कारण है', इस निश्चय को ज्ञान कहना ठीक नहीं। स्वतंत्र-कृति-रूप आत्मा की ज्ञेयता स्वीकार की जा सकती है, पर अनात्म-कार्य के स्वतंत्र कारण या कर्तृ-रूप आत्मा की केवल ध्येयता ही मानी जा सकती है। यह ठीक है कि अनात्म-कार्य का अनात्म-कारण ज्ञेय ही होता है, पर 'आत्मा इस कार्य का कारण है', इस

बात का ज्ञानेतर निश्चय मात्र होता है, ज्ञान नहीं होता। हम कह चुके हैं कि स्वतंत्र-कृति में काम-वर्जन-रूपी कामापेक्षा रहती है। इस कामापेक्षा के कारण ही स्वातंत्र्य की वेदना में यह निश्चय उभरता है कि 'आत्मा की विषय-परिणाम के प्रति कारणता है'। पर अनुकूल वेदना में यह उपलब्धि होती है कि 'यह निश्चय ज्ञान नहीं है'। जबकि स्वातंत्र्याभिमान में यह भ्रम होता है कि 'यह निश्चय ज्ञान है'। ज्ञेय अनात्म-कार्य का अनात्मकारण किसी और अनात्मकारण का कार्य होता है, अतएव यह मानना पड़ता है कि अनात्मकारण परतंत्र और अनादि है। आत्मा अनात्मकार्य की अन्यतर कारण है। क्योंकि यह आत्मा स्वतंत्र-कृति-रूप है इसलिये इसे स्वतंत्र कारण और आदि कारण कहा जा सकता है। धर्मानुभूति में अनात्मकार्य के स्वतंत्र और परतंत्र, इन दोनों कारणों का युगपत् निश्चय होता है। पर धर्माभिमान में यह अभिमान होता है कि परतंत्र कारण की ही तरह मैं आत्मरूप स्वतंत्र कारण को भी विषय-भाव से जानता हूँ।

आत्मा की अप्राकृत स्वतंत्र-कारणता का पहला निश्चय प्राकृत कार्य की कारणता के प्रसंग में होता है। प्राकृत कार्य ऐसी कालिक घटना को कहा जाता है जो विषय-भाव से ज्ञेय होती है, दूसरे शब्दों में, ऐसे पदार्थ को जो काल-प्रवाह में उत्पन्न और स्थित होता है। पर यह निश्चय जागे कि अप्राकृत कारण भी होता है, तो अप्राकृत या कालातीत कार्य की कल्पना भी जन्म लेती है। अप्राकृत आत्मा जिस तरह कालिक घटना की कालातीत कारण है, आत्मा की पाप-पुण्य-रूपी अप्राकृत अवस्था की भी उसी तरह कारण है। आत्मा की इस कार्यावस्था को कांट ने उसका 'अप्राकृत स्वभाव या आत्मशरीर (Nomenal Charector) इन शब्दों से निर्दिष्ट किया है। प्राकृत और अप्राकृत कार्य की अपेक्षा से आत्मा की स्वतंत्र कारणता को समझा जा सकता है।

यह ठीक है कि स्वतंत्र-कृति फलकामना द्वारा तो प्रवर्तित नहीं होती, पर आत्मा को श्रेयोरूप फल मिलता है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। ऐसे फल का संधान उस बुद्धि में ही पाया जा सकता है जो फल-कामना का वर्जन करती है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि श्रेयोबुद्धि धर्मबुद्धि-सापेक्ष है, पर धर्मबुद्धि श्रेयोबुद्धि-सापेक्ष नहीं है। परतंत्र-कृति से फल की कल्पना सकाम-कल्पना है। यहां फल काम का विषय या ईप्सित नहीं होता, उसकी कल्पना आत्मा के इष्ट या कल्याण के रूप में होती है।

स्वतंत्र-कृति या धर्म की वेदना से निष्काम फल की कल्पना उचित होती है। पर यह वेदना जहां अस्फुट हो वहां धर्म के फल की कल्पना उद्भूत नहीं होती। धर्म के फल को श्रेय या इष्ट या कल्याण कहा जा सकता है। धर्म में तो कल्याण-फल की भी कामना नहीं रहती, पर धर्म-वेदना में धर्म-फल की निष्काम कल्पना जागती है। परतंत्र-कृति में सुख-रूपी फल की सकाम कल्पना रहती है। यह सच है कि परतंत्र-कृति मात्र में आत्मा के अशुद्ध भाव की सूचना बनी रहती है, पर फिर भी यह संभव है कि ऐसी कृति अकर्तव्य-कृति या अधर्म न हो। पर अधर्म-रूपी परतंत्र-कृति में जो प्राकृत सुख की सकाम कल्पना होती है, उसके बारे में यह प्रतीति जागती है कि यह सुख अनिष्ट या अकल्याणमय है। पर धर्म-रूपी स्वतंत्र-कृति की वेदना में प्राकृत सुख की निष्काम कल्पना भी रह सकती है। प्राकृत होते हुए भी 'यह सुख धर्म-वेदना के अविरुद्ध है, अर्थात्, इष्ट या कल्याणमय है' ऐसी उपलब्धि होती है। धर्मवेदना में दुःखरूपी प्राकृत फल की कल्पना भी रह सकती है। पर यह प्राकृत दुःख बस स्वतंत्र-कृति-जन्य क्रिया का फल होता है, उसके बारे में ऐसी कल्पना नहीं होती कि 'यह स्वतंत्र-कृति या धर्म का फल है।' बल्कि, ऐसे में प्रतीति यही जागती है कि 'धर्म का फल तो पुण्य-रूपी आत्मा की अप्राकृत अवस्था या स्थिति ही है।' धर्म का फल सर्वत्र ही ऐसी पुण्य-रूपी सुख जो धर्म-वेदना के अनुकूल है, वह भी इष्ट है, और यों पुण्य और सुख इस उभय-संवलित धर्म-फल को ही आत्मा का पूर्ण कल्याण कहा जा सकता है।

पुण्य अप्राकृत कल्याण है, और सुख प्राकृत कल्याण। स्वतंत्रकृति द्वारा साक्षात् संपर्क से पुण्य साधित होता है : 'विधि का पालन करने वाला कर्त्ता ही अप्राकृत कल्याण-साधक कर्त्ता होता है', यह निश्चय अनुभव-सिद्ध है। पर ऐसा कोई अनुभव नहीं होता कि 'अप्राकृत कल्याण की तरह प्राकृत कल्याण भी विधि का पालन करने वाले कर्त्ता द्वारा साधित होता है।' 'ऐसा कोई कल्याण घटित हो रहा है' यह बोध भी सर्वत्र नहीं होता। अगर होता भी है तो इस निश्चय के साथ नहीं होता कि 'इसको साधने वाला कर्त्ता मैं हूँ।' पूर्णकल्याण-रूपी धर्मफल अवश्यंभावी है। 'उस पुण्य का एकांश मेरा साध्य है, पर तत्-पुण्यानुरूप जो सुख-रूपी अपरांश

है, वह मेरा साध्य नहीं है', यह निश्चयात्मक कल्पना जागती है और उसका उद्भूत धर्म-वेदना से होता है। हम कह चुके हैं कि धर्म-वेदना से आत्मा की स्वतंत्र-कारणता का ध्यान-निश्चय होता है। 'आत्मा की स्वतंत्रकारणता द्वारा पुण्य साध्य है, पर सुख साध्य नहीं, ये दोनों निश्चय, 'पूर्णकल्याण होता है', इसी निश्चय के अंतर्भूत हैं।

किसी भी कृति-जन्य पुण्य की अनुभूति में 'इससे भी अधिक पुण्य है' यह निश्चय समाया रहता है और उसकी साधक अन्य कृति की आकांक्षा भी समाई रहती है। और यों, अनंत कृति-संतति साध्य निरतिशय पुण्य की निश्चयात्मक कल्पना जागती रहती है। अब, अनंत कृति-संतति की कल्पना इस कल्पना की अपेक्षा रखती है कि काल अनंत है। अतएव, पुण्य की आत्मकर्तृत्व-साध्यता का निश्चय इस निश्चय को जन्म देता है कि जगत् अनंतकालात्मक है और आत्मकर्तृत्व-रूपी आत्मा अनंतकालव्यापी है : अमर है। 'पुण्य के अनुरूप सुख का होना अवश्यभावी है, पर वह पुण्य-साधक आत्मा के कर्तृत्व द्वारा साध्य नहीं है', इस निश्चय से ऐसे ईश्वर के होने का ध्यान-निश्चय होता है जो कल्याण-सुख रूपी फल का दाता है। तो, कहा जा सकता है कि साधक आत्मा के अमरत्व का और सिद्ध-स्वरूप ईश्वर के होने का निश्चय, इस निश्चय के अंतर्भूत है कि पूर्णकल्याण होता है।

यों हम पाते हैं कि आत्मा की स्वतंत्र-कारणता, आत्मा का अमरत्व और ईश्वर का सिद्धान्त-या अस्तित्व- ये तीन अप्राकृत निश्चय धर्म-वेदना से जन्म लेते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि ये तीनों निश्चय इस निश्चय के प्रकारभेद हैं कि 'आत्मा अप्राकृत विषय है'। 'वह आत्मा जो स्वतंत्र-कृति-संतति-स्वरूप' है, वह पूर्ण-कल्याण का ईश्वर-निमित्तता-सापेक्ष स्वतंत्र कारण है, यह निश्चय उसी आत्मा का निश्चय है जो कि अप्राकृत विषय के रूप में ध्येय है। ऊपर यह स्वीकार किया गया है कि विधि और स्वातंत्र्य इस उभयात्मक धर्म का ज्ञान होता है। यह ज्ञान आत्मा के अविषयक का ज्ञान भी है। धर्म की अनुकूल वेदना में यह उपलब्धि होती है कि 'अविषय आत्मा के ज्ञान-रूपी निश्चय में और अप्राकृत-विषय के रूप में कल्पित आत्मा के ध्यान-रूपी निश्चय में नितांत भेद हैं। धर्माभिमान-रूपी प्रतिकूल वेदना में यह भ्रम होता है कि 'यह ध्यान-निश्चय ज्ञान है।' में

आत्मा की स्वर्ग-लाभ आदि अप्राकृत अवस्था का साधन कर रहा हूँ, यह कार्य-करण ज्ञान या उपाय-उपेय ज्ञान विषय-ज्ञान ही होता है। पर स्वतंत्र-कृति-रूपी आत्मा का जो ज्ञान होता है वह कृति-तंत्र ज्ञान होता है। इस ज्ञान की तुलना में विषय-ज्ञान को अकृतितंत्र या स्वतंत्र ज्ञान के नाम से निर्दिष्ट किया जा सकता है। 'मुझे विषय-ज्ञान की तरह की स्वतंत्र आत्मज्ञान हो रहा है,' यह अभिमान धर्माभिमान की सूक्ष्म प्रकृति है।

'धर्म के अनुरूप अप्राकृत आत्मकल्याण होकर रहेगा', ऐसे ध्यान-निश्चय को श्रद्धा कहा जा सकता है। 'मैं धर्म के द्वारा ऐसा कल्याण साध रहा हूँ, यह कर्तृत्वाभिमान ही धर्माभिमान है। श्रद्धा विधि के प्रति सम्मान का ही रूपांतर है— श्रद्धा इस सम्मान से अनुप्राणित रहती है। पर मैं धर्म का कल्याण-लाभ के लिये प्रयोग कर रहा हूँ, इस अभिमान में श्रद्धा नहीं होती। स्वतंत्र ज्ञान का ऐसा श्रद्धाविहीन अभिमान भी होता है कि 'उपाय का प्रयोग मेरा ही बल-प्रयोग है, मेरे ही विषय-ज्ञान-रूपी अस्त्र का संचालन है।'

धर्माभिमान के समान धर्म-विलास भी धर्म की प्रतिकूल वेदना है। विधि-पालन रूप कर्म में जो फल-निरपेक्ष आनंदबोध होता है, उसे धर्म-विलास नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि धर्म की अनुकूल वेदना में आत्मप्रसाद होता है, पर यह आत्मप्रसाद कर्तृ-रूपी आत्मा का सुखबोध नहीं होता, वह सुख-दुःख के अतीत अप्राकृत आत्मवेदना-स्वरूप होता है। 'मैं जो विधिरूप आत्मा हूँ, वह अपनी कामरूप आत्मा को सुशासित कर रहा हूँ,' यह अनुभूति ही आत्मप्रसाद है। आत्मशासन की अनुभूति बिना जो आनंदबोध होता है, वह विलास है। क्रीड़ाकर्म को या नृत्यगीतादि-रूप रसक्रिया को कर्मविलास कहा जा सकता है। पर विधिपालन-रूपी कर्म में तत्-कर्तृ-रूपी आत्मा का साधक के लिये विलास संभव नहीं। हां, यह कल्पना की जा सकती है कि सिद्ध और देवताओं के लिये ऐसा विलास संभव है। कर्मविलास में कर्तृत्व-ज्ञान संभव नहीं— विलास का आलंबन-भूत कर्म कृति ही नहीं होता। साधक के लिये विधिपालन कृति विशेष होती है, अतएव साधक का धर्मविलास भ्रमात्मक ठहरता है। पर ऐसी भ्रम-वेदना से इन्कार भी नहीं किया जा सकता। सच यह है कि साधक को धर्म में जिस आनंद की प्रतीति होती है, उसके बारे में यह संशय ही रहता है कि 'यह सचमुच आनंद भी है क्या', धर्मविलास इस संशय-ग्रस्त आनंद का ही नाम है।

धर्माभिमान में आत्मा में ध्यान के बारे में यह भ्रम होता है कि 'यह ज्ञान है'। धर्मविलास में यह विपरीत भ्रम होता है कि 'आत्म का ज्ञान, ज्ञान नहीं ध्यान मात्र है'। ऐसी कल्पना भी होती है कि 'स्वतंत्र-कृति कृति ही नहीं है, क्रियामात्र है, ऐसी क्रिया जिसका विषय अप्राकृत है'। धर्माभिमान में आत्मा की प्रतीति जितनी स्फुट होती है, धर्मविलास में उतनी स्फुट नहीं होती। धर्मविलास में अनात्म-विषय की प्रतीति ही स्फुट होती है, धर्माभिमान में वह अस्फुट रहती है, पर अनात्म की प्रतीति यहां अनात्म के हेयत्व की प्रतीति होती है। धर्माभिमान में आत्मा की प्रतीति के साथ गौण भाव से अनात्म के मिथ्यात्व की भी प्रतीति रहती है। आत्मा की कारणता के आभिमानिक ज्ञान के साथ यह प्रत्यय भी गूढ़ भाव से जागता रहता है कि 'बात बस इतनी ही नहीं है कि मैं प्राकृत विषयों का वर्जन कर रहा हूँ, पर यह भी है कि ऐसा विषय स्वतंत्र-कारणता का प्रतिरोधक हो ही नहीं सकता'। धर्मविलास में अनात्म-विषय के ज्ञान के साथ कारणता-विहीन आत्मा का अस्फुट प्रत्यय भी रहता है, इस कारण विषय में आत्मच्छाया-रूपी आभास-पदार्थ का निश्चय भी होता है। ज्ञेय आत्मा को ध्येय समझना, धर्मविलास का यह सूक्ष्म आलंबन है, और यही आभास पदार्थ के निश्चय के रूप में व्यक्त होता है। धर्माभिमान में आत्मा की कारणता का जो आभिमानिक ज्ञान होता है, धर्मविलास में उसकी जगह विषय की स्वतंत्र-कारणता का ज्ञानाभिमान होता है। आत्मा की स्वतंत्र-कारणता के निश्चय में ये तीन निश्चय अंतर्भुक्त होते हैं : आत्मा की स्वतंत्र स्थिति, पुण्य-फल के लिये की जाती अनंत-काल सापेक्ष कृति-संतति, और पूर्ण-कल्याण साधक ईश्वर की निमित्तता। ऐसे विषय की स्वतंत्र-कारणता के निश्चय में तत्-विषय की आत्मवत् स्वतंत्र स्थिति का होना, उसकी स्व-कल्याण-साधक स्वतंत्र क्रिया संतति का होना और जगत् का पूर्ण-कल्याण-मूर्ति होना या उसका ईश्वर-शरीर होना, ये निश्चय भी समाये रहते हैं। धर्म की अनुकूल वेदना में आत्म-विषयक ये तीन निश्चय श्रद्धात्मक ध्यान-निश्चय के रूप में प्रतिपन्न होते हैं, और तदनु रूप अनात्मक-विषयक निश्चय-त्रय की आनंदात्मक ध्यान-निश्चय के रूप में प्रतिपत्ति होती है। धर्माभिमान और धर्म-विलास रूपी प्रतिकूल वेदना में यह भ्रम होता है कि श्रद्धात्मक निश्चय और आनंदात्मक निश्चय, ये दोनों निश्चय नहीं ज्ञान हैं। धर्माभिमान में आनंदात्मक निश्चय का प्रत्याख्यान होता है और धर्मविलास में श्रद्धात्मक निश्चय का।

परन्तु अनुकूल-धर्म-वेदना में ये दोनों ही निश्चय अप्रत्याख्येय ज्ञानेतर निश्चय होते हैं। एक निश्चय के विषय में जो यह प्रतीति होती है कि 'यह ज्ञान है' और तज्जन्य दूसरे निश्चय में जो यह प्रतीति होती है कि 'यह प्रत्याख्येय', यह प्रतीति भ्रांत होती है और बीजभूत धर्ममल और आत्मगत अशुद्धि की परिचायक है। अनुकूल धर्म-वेदना में यह अनुभूति जागती है कि 'धर्मरूप आत्मा की शुद्धि के लिये इस भ्रम का निरास प्रयोजनीय है।' इस धर्मवेदना में हमें जो ज्ञान और ध्यान के भेद की उपलब्धि होती है, वही इस भ्रम के निरास का उपाय है। विधि-पालन-रूपी धर्म में आत्मा का एक प्रकार का ज्ञान होता है और अनात्मा का अन्य प्रकार का ज्ञान होता है। पर ज्ञान के इस प्रकार-भेद की उपलब्धि वहां नहीं होती। इस अविवेक के कारण ही आत्मा और अनात्मा के परस्परात्मकत्व की कल्पना संभव होती है। धर्म-वेदना-जन्य कल्पना निश्चय को जन्म देती है, अन्य किसी वेदना-जन्य कल्पना में निश्चय का स्थान नहीं होता। प्रतिकूल धर्म-वेदना में उदित होते निश्चय के बारे में भ्रम होता है कि 'यह ज्ञान है', पर अनुकूल धर्म-वेदना में यह उपलब्धि होती है कि 'यह निश्चय ज्ञान से भिन्न है'। आत्मा और अनात्मा के परस्परात्मकत्व का ज्ञान नहीं हो सकता, किन्तु इसका निश्चय होता है, यह मानना पड़ेगा। यह ज्ञान नहीं है, पर कल्पना मात्र भी नहीं है, यह निर्देश आपात-विरुद्ध जान पड़ता है : जिस प्रतीत विषय का ज्ञान नहीं होता, उसका ग्रहण कल्पित-मात्र के रूप में होता है। साधारणतः ज्ञानेतर निश्चय को स्वीकार ही नहीं किया जाता। केवल धर्म में या धर्मज्ञान में ही ज्ञान-भिन्न ध्यान-निश्चय की बात प्रासंगिक होती है। यह ठीक है कि धर्म-निरपेक्ष रसानुभूति-जन्य ध्यान की भी संभावना बनती है, पर ऐसा ध्यान निश्चय रूप हो तो भी उस अनुभूति में (रसानुभूति में) वह निश्चय के रूप में प्रतीत होता है। अनुकूल धर्म-वेदना में धर्म-विलास के प्रतिकूलत्व का जो अनुभव होता है, उस अनुभव में ही धर्म-निरपेक्ष, अर्थात् स्वतंत्र रस-रूपी निश्चय का हमें पहला संधान मिलता है। धर्म-ज्ञान में यह ज्ञान होता है कि आत्मा विषय नहीं है, विषय से भिन्न है। इसीलिये आत्मज्ञान चाहे विषय-ज्ञान की अपेक्षा करता भी हो, तो भी यह ज्ञान नहीं होता कि 'आत्मा विषय की अपेक्षा रखती है'। धर्म-वेदना में विषय-परिमाण के प्रति आत्मा की स्वतंत्र-कारणता का निश्चय होता है, विषय-कारणता को आत्मा पर विषय की छाया कहा जाता है। इसी तरह यह ध्यान-निश्चय

जन्म लेता है कि 'विषय पर आत्मा की छाया है, अर्थात्, आत्म विषय से अभिन्न है'। इस तरह आत्मा और अनात्मा की परस्परात्मकता का ज्ञान-निश्चय नहीं होता, पर यह कहा जा सकता है कि ध्यान-निश्चय होता है।

रस-ध्यान में यह निश्चय होता है कि 'विषय आत्म-छाया-युक्त वस्तु है', और श्रद्धा-ध्यान में यह कि 'विषय आत्म-रूप वस्तु में निष्ठ छाया है'। इसी तरह धर्म-वेदना में यह निश्चय होता है कि 'विषय छाया भी है और वस्तु भी है, अर्थात् सदसत् है'। धर्मज्ञान में विषयज्ञान की अपेक्षा बनी रहती है और इसीलिये यह प्रतीति जागती रहती है कि 'विषयज्ञान धर्मज्ञान या आत्मज्ञान की अपेक्षा नहीं करता, वह आत्मज्ञान की तरह कृत्यात्मक ज्ञान नहीं है, अपने आप में स्वतंत्र ज्ञान है'। हम विषयज्ञान को स्वीकार करें तो विषय की वस्तुता स्वतः स्वीकृत हो जाती है। धर्मज्ञान में ही यह ज्ञान रहता है कि 'विषय वस्तु है'। पर धर्म-वेदना में यह ज्ञानेतर निश्चय रहता है कि 'विषय छायात्मक या आभासात्मक वस्तु है'। तो, धर्मज्ञान में विषयज्ञान के स्वतंत्र-रूप में गृहीत होने के कारण, यह प्रसंग उठता है कि 'विषय की आभासात्मक वस्तुता का जो धर्मापेक्ष निश्चय है, वह स्वतंत्र विषयज्ञान के अविरुद्ध है या नहीं ? ज्ञानविरुद्ध ध्याननिश्चय निश्चय नहीं, निश्चय का आभासमात्र होता है। स्वतंत्र विषयज्ञान विषय की वस्तुता मात्र का ज्ञान है, वह आभासात्मक वस्तुता का ज्ञान नहीं है। ऐसी किसी वस्तुता की ज्ञेय के रूप में कल्पना भी की जा सकती है या नहीं, यह संदेह की बात है। स्वतंत्र विषयज्ञान में ऐसा (आभासात्मक) वस्तुताज्ञान अस्फुट भाव से रहता है या नहीं, इसे समझने के लिये इसकी विषयज्ञान-पद्धति या प्रमाण द्वारा परीक्षा प्रयोजनीय है। धर्म-वेदना-सापेक्ष निश्चय अगर विषय-प्रमाण के विरुद्ध हो तो उसे भ्रम ही मानना होगा। अतएव धर्म-परीक्षा या कृति-परीक्षा से अगर विषय की आभासात्मक वस्तुता का निश्चय जागता भी है तो भी वह निश्चय भ्रम है या नहीं, इस बात का निर्णय करने के लिये धर्म-निरपेक्ष स्वतंत्र ज्ञान-परीक्षा प्रयोजनीय है।

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी —

1. "Freedom must be presupposed as an attribute of the will of rational beings"-
"presuppose" here is manifestly equivalent to "look upon as", "assign to",
"ascribe to", in short = imagines! ... here then "presuppose" does not denote
an hypothesis but fiction.
Vaihinger, H., *The Philosophy 'As If'* tr. by C.K. Ogden (Routledge and
Kegan Paul, LTD, London 1924 (5th impression 1968), pp. 289-290.
2. पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्, मीमांसासूत्र, 3.1.6.
3. Kant, I., *Critique of Pure Reason*, tr. by N. K. Smith (The Mcmillan Press
Ltd., London, first published, 1929] 12th impression, 1973), p. 645-646.
4. I must not even say, 'It is morally certain that there is a God, etc.', but 'I am
morally certain, etc.', *Ibid.*, A 829, B 857.
5. Bernard, J.H., tr., *Critique of Judgment*, by Kant, I., (Hafner Publishing
Co., New York 3rd impression, 1964), pp. xxxi-xxxii.
6. Bhattacharya, K.C., *Implications of the Philosophy of Kant*, tr. by Mohanty
and Tara Chatterjee (Oxford University Press, Delhi, 2011), p. 59.
7. To Kant, the transcendental is the self as conscious act or freedom. He does
not conceive it as quiescent consciousness or undifferented being like the
Vedāntist, and he vigorously denies intuition of the self. The self is to him an
active consciousness or conscious act, whether as knowing or as willing.
Bhattacharyya, K.C., *Studies in Kant contained in Studies in Philosophy*,
Vol. II, ed. by Gopinath Bhattacharya (Progressive Publishers, Calcutta,
1958), p. 301.
8. Knowledge then to Kant need not be theoretical knowledge and need not
imply intuition: it is only theoretical or objective knowledge that has
intuition as a necessary factor. Both practical knowledge and theoretic
knowledge imply thinking, ... In the theoretical knowledge of the object
belief comes through the intuition or the sense-giveness.... In practical
knowledge of the self, there is the thinking of the self as cause, ... but the
belief in the self is through the willing or realising of the thought.
Studies in Kant, p. 302.
9. Willing is force as thinking of itself as cause and realizing thinking. Free
willing is known as real in the willing itself, not in introspection;... *Studies*
Kant, p. 303.
10. Knowledge then to Kant need not be theretical knowledge and need not
imply intuition; it is only theoretical knowledge or objective knowledge that
has intuition as a necessary factor.
Studies in Kant, p. 302.

11. *Both practical knowledge and theoretical knowledge imply thinking In the theretic knowledge of the object belief comes through the intuition or the sense-givenness ... In practical knowledge of the self, there is the thinking of the self as cause, ..., but belief in the self is through the willing or the realizing of the thought.*

Studies in Kant, p. 302-3.

12. *Critique of Pure Reason, A 805, B 833.*
13. *Ibid, p. 32.*
14. *By 'the practical' I mean everything that is possible through freedom, Critique of Pure Reason, A 800, B 828.*
15. *Critique of Pure Reason, A 841, B 869.*
16. *On this view, philosophy is the science of the relation of all knowledge to the essential ends of human reason (teleologia rationis humanae), ...*
Critique of Pure Reason, A 839, B 861
17. *Critique of Pure Reason, A 840, B 868.*
18. *Critique of Judgment, pp. 8-9.*
19. *Critique of Judgment, p. 12.*
20. *Critique of Practical Reason, tr. by T.K. Abbott; First Part, Book I Ch. III.*
21. *Everything in nature works according to laws. Rational Beings alone have the faculty of acting according to the Conception of Law, that is according to principles, i.e. have a will....the will is nothing but practical reason. Fundamental Principles of Metaphysic of Morals tr. by Abbott, T.K. [Logmans, Green & Co., 1895, reprinted Wilder Publication, 2008, USA] Section II, p. 31.*
22. *Ibid.*
23. *Ibid.*
24. *Ibid.*
25. *Paton, H.J., The Categorical Imperative (New York : Harper, 1947), Book III, pp. 129-98.*
26. हमने person का अर्थ 'मानवीयरूप' किया है। इस प्रकार से अर्थ करने का कारण यह है कि कांट के अनुसार 'परसन' का अर्थ 'बौद्धिक प्राणी' है। यास्क के अनुसार 'मानव' का अर्थ है— मत्वा, कर्माणि सिव्यन्ति (जो विचारपूर्वक कर्म करते हैं)। अतः 'परसन' का सही अर्थ 'व्यक्तित्व' न होकर मानव है; व्यक्तित्व के लिए अंग्रेजी में 'individuality' शब्द है।
27. *Fundamental Principles of the Metaphysic of Morals, Section II.*
28. *Ibid.*
29. *Ibid., Critique of Practical Reason, First Part, Book I, IV.*

30. *Critique of Practical Reason, First Part, Book I, VIII Theorem IV.*
31. Hertzberg, A. (ed.) *Judaism (Practice-Hall Internatioanl, London, 1961), p. 109.*
32. Sullivan, R.J. *Immanuel Kant's Moral Theory (Cambridge University Press, 1989, reprint, 1995), p. 59.*
33. *But although we believe that the action is thus determined, we none the less blame the agent, not indeed on account of his unhappy disposition, nor on account of the circumstances that have influenced him, nor even on account of his previous way of life; Our blame is based on the law of reason whereby we regard reason as a cause that irrespective of all the above mentioned empirical conditions could have determined, and ought to have determined, the agent to act otherwise.*

Critique of Pure Reason, p. 477.
34. Rawls, John, *Lectures on the History of Moral Philosophy ed.by Barbara Herman (Harvard university press, Cambridge, messachusetts, and London, England 2000) pp.167-169.*
35. *First, in moral constructivism what is it that is constructed? The answer is: the content of the doctrine. Ibid.p.239.*
36. *Every construction has a basis, certain materials, as it were from which it begins, While the CI-procedure is not, as noted above, constructed but laid out, it does have a basis:the conception of free and equal person as reasonable and rational, a conception that is mirrored in the procedure.Ibid.p.240.*
37. *To will or freely cause is in fact to think and expect a causal change in the world, and the expectation is partially fulfilled, 'Studies in Kant' in Studies in Philosophy, vol. II.p.303*
38. Rawls, John, *A Theory of Justice (Harward University Press Cambridge, Massachusetts, London, England, 1971), p. 251.*
39. मिश्र, नित्यानन्द, नीतिशास्त्र (सिद्धान्त तथा प्रयोग) (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2005), पृ० 141.
40. *Just as little, in fine, ought housekeeping, farming, statesmanship, the art of conversation, the prescribing of diet, the universal doctrine of happiness itself, or the curbing of the inclinations and checking of the affections for the sake of happiness to be reckoned as practical philosophy or taken to constitute the second part of the philosophy in general. For all these contain only rules of skill (and are consequently only technically practical) for bringing about an effect that is possible according to natural concepts of*

causes and effects, which, since they belong to theoretical philosophy, are subjects to those precepts as mere corollaries from it (viz., natural science) and can therefore claim no place in a special philosophy called practical.

Critique of Judgment, p. 9.

41. Silber, John, R., 'The Copernical Revolution in Ethics; The Good Examined', in *Kant : A Collection of Critical Essays* ed. R.P. Wolff (University of Notre Dame Press Notre Dame, Landon, 1968), pp. 267-290; see also Sullivan Roger J., *Immanuel Kant's Moral Theory* (Cambridge University Press art impression 1996), p. 45 and Beck, L.W., *A Commentary on Kant's Critique of Practical Reason* (The University of Chicago Press, Chicago & London, 1960 reprinted, 1966), p. 179.
42. *Kant's case against the classical tradition does not rest, however, on these theoretical difficulties alone. As a result of defining good prior to the moral law, the classical tradition emerged with a homogeneous concept of the good, a concept in which no distinction was made between moral and non-moral good.* Silber, John R., 'The Copernican Revolution in Ethics: The Good Reexamined', p. 278.
43. *We can express this by saying that in justice as fairness the concept of right is prior to that of the good.* Rawls, John, *A Theory of Justice* (Harvard University Press, Cambridge Massachusetts, London, England, 1971), p. 31.
44. Rawls, John, *Lectures On The History Of Moral Philosophy*, ed. by Barbara Herman (Harvard University Press Cambridge, Massachusetts, and London, England, 2000) p. 227
45. *To act from the principles of justice is to act from categorical imperatives in the sense that they apply to us whatever in particular our aims are.*
Rawls, John, *A Theory of Justice*, p. 253.
46. Rawls, John, *A Theory of Justice*, p. 11.
47. Kant, I, *Fundament Principles of the Metaphysic of Morals* tr. by Abbott, T.K. [Longmans, Green and Co. 1895] section II.
48. *Ibid.*
49. *The contract view as such defines a sense in which men are to be treated as ends not as means only.*
- Rawls, John, *A Theory of Justice*, p. 180.
50. *To regard persons as ends in themselves in the basic design of society is to agree to forgo those gains which do not contribute to their representative expectations.* *Ibid.*

51. By contrast, to regard persons as means is to be prepared to impose upon them lower prospects of life for the sake of the higher expectations of the others. *Ibid.*
52. The concept of the freedom of the will does not precede the consciousness of the moral law in us but is deduced from the determinability of our will by this law as an unconditional command, Kant, *I, Religion within the Limits of Reason Alone* tr. by Green, T.M. & Hudson, H.H., (Harper Torchbooks, London, 1934, reprinted, 1960) Book I, p. 45.
53. The proposition follows from the preceding one; for if the law can prescribe only the maxim of actions, not action themselves, this is a sign that it leaves a playroom (latitude) for free choice in following (complying with) the law, that is, that the law cannot specify precisely in what way one is to act and how much one is to do by the action for an end that is also a duty. Kant, *I., The Metaphysic of Morals and Contained in Practical Philosophy* tr. & ed. by Gregor, M.J., & Wood, Allen (Cambridge University Press, Cambridge, 1996), p. 521.
54. ... That is, first really good act that a man can perform is to forsake evil, which is to be sought not in his inclinations, but in his perverted maxim, and so in freedom itself. *Religion within the Limits of Reason Alone*, Book II, p. 51.
55. Natural inclinations, Considered in Themselves, are good, that is, not a matter of reproach, and it is not only futile to want to extirpate them but to do so would also be harmful and blameworthy. *Ibid.*
56. Quoted from Fallckenberg, R., *History of Modern Western Philosophy*, pp. 387-388.
57. Now here we have a duty which is *sui generis*, not of men toward men, but of human race toward itself... Hence this duty is distinguished from all others both in kind and in principle. We can already see that this duty require the presupposition of another idea, namely, that of the higher moral being through whose universal dispensation the forces of separable individuals, insufficient in themselves, are unified for a common end, *Religion within the Limits of Reason Alone*, p. 89.
58. Kant, *I., The Critique of Practical Reason*, इस पुस्तक की प्रस्तावना देखें।
59. *Ibid.*; Beck, L.W., *A Commentary on Kant's, Critique of Practical Reason*, Chs. XIV & XV.
60. *Critique of Judgment*, p. 319.
61. Kant, *I., The Critique of Practical Reason*, Book II (कांट ने पूर्व मान्यताओं की विस्तृत चर्चा इसी खंड में की है)।

62. Kant, I., *The Critique of Practical Reason*, dh izLrkouknsf" aA
63. Beck, L.W., *A Commentary on Kant's Critique of Practical Reason*, p. 208.
64. Kant, I., *The Critique of Practical Reason, Book I, Kant Says, "However, there are still many who think that they can explain this freedom on empirical principles, like any other physical faculty, ... They thus deprive us of the grand revelation which we obtain through practical reason by means of moral law... The Critique of Practical Reason, Book I, Section III, p. 83.*
65. *What else then can freedom of the will be but autonomy, that is, the property of the will to be a law to itself. Fundamental Principles of the Metaphysic of Morals by Kant, I., Section, III.*
66. *Critique of Pure Reason*, p. 470.
67. Beck, L.W., *Acommentary on Kant's Critique of Practical Reason, Ch. XI, PP. 176-181 & 198-199.*
68. *Critique of Pure Reason*, pp. 92-93 & p. 151.
69. Kant, I., *Natural inclinations, considered in themselves, are good, that is not a matter of reproach, and it is not only futile to want to extirpate them but to do so would also be harmful and blameworthy. Religion Within the Limits of Reason Alone, Book II, p. 31.*
70. Kant, I., *Religion Within the Limits of Reason Alone, Book I, p. 31.*
71. Beck, L.W., *Acommentary on Kant's Critique Practical Reason, Ch. XI, p. 199.*
72. *I think there is a difference between the human being and the individual. The individual is a social entity, living in a particular country, belonging to a particular culture, particular society, particular religion. The human being is not a local entity. He is everywhere. Krishnamurti, J., Freedom from the Known (Krishnamurti Foundation Chennai, 1999), pp. 9-10.*
73. Kant, I., *Religion within the Limits of Reason Alone, see its Introduction by Theodore J, Green, pp. lxxv- lxxvii.*
74. Kant, I., *Religion within the Limits of Reaosn Alone. See its preface by John R. Silber, pp. cxi-cxlii.*
75. Kant, I., *Opus Postumum, tr. by F. Forster and Michael Rosen and ed. by E. Forster. (Cambridge University presss, 1993).*
76. *Ibid., See Introduction, p. xviii.*
77. *Person is a being who has rights and conscious of them. If he has rights and no duties, then he is God. To have duties and no rights is the charactristic of the criminal. Ibid., p. 210; God and Man, both persons. The latter is bound to duty, the former commands duty, p. 242.*

78. *The categorical imperative.... does not begin from freedom but ends and completes with it. Ibid., p. 212.*
79. *Ibid., p. 215.*
80. *Kant, I., Religion within the Limits of Reason Alone, Book IV, part I, pp. 142-143.*
81. *The humiliating distinction between laity and clergy disappears, and equality arises from true freedom, yet without anarchy, because, though each obeys the (non-statutory) law which he prescribes to himself, he must at the sametime regard this law as the will of a world-Ruler revealed to him through reason, a will which by invisible means unites all under one common government into one state- a state previously inadequately represented and prepared by the visible church. Religion within the Limits of Reason Alone, Book III, Division I, p. 112.*
82. *To Kant, the transcendental is the self as conscious act or freedom... The primitive act is not unconscious, as it is conceived by Fichte, but conscious freedom in willing and conscious apperception in knowing. Studies in Philosophy, ed. by G. Bhattacharya, p. 301.*
83. *Nor is absolutely necessary to know, concerning all possible actions, whether they are right or wrong. But the concerning the act which I propose to perform I must not only judge and form an opinion, but I must be sure that it is not wrong; ... Religion Within the Limits of Reason Alone, Book IV, Part II, p. 174.*
84. *प्रो. श्रीनारायण मिश्र, वैशेषिक दर्शन का एक अध्ययन (चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 1968), पृ. 210.*
85. *The act of will and the movement of the body are not two different things objectively known, which the bond of the causality unites; ... they are one and the same... See the Story of Philosophy by will Durant (Washington square press, New York, 24th impression, 1970), p. 314.*
86. *द्विवेदी, कपिलदेव, अर्थ विज्ञान एवं व्याकरण दर्शन (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 2008), पृ. 248-249.*
87. *Mohanty, J.N. and Chatterjee, T. (tr.), Implications of the Philosophy of Kant (Oxford University press, New Delhi, 2011), p. 42.*
88. *The Critique of Practical Reason, Book I, pp. 65-67.*

चित्राद्वैतः

मूल लेखक : आचार्य ज्ञानश्रीमित्र
हिन्दी रूपान्तरकार : हरिशंकर सिंह

I

अथवा (चित्राकार चक्र में नील-पीतादि रूप) अनुभवस्वभाव (=ज्ञानस्वभाव) की भी यह कौन-सी अलीकता है? यदि कहें कि बाधक के कारण (यह अलीकता है), तो पुनः प्रश्न है कि किस के द्वारा किस की बाधा होती है? (उत्तर में यदि कहा जाय कि) व्यापकानुपलंभ के द्वारा चित्राकारराशि (=चित्रचक्रगत नील-पीतादि आकारसमूह) बाधित हो जाती है, तो (ज्ञानश्रीमित्र की इस पर टिप्पणी है कि) आप का यह पक्ष 'विक्रीतगविरक्षणम्' (जैसा बेटुका) है: (क्योंकि)–

यह प्रतिपादित किया गया है कि बाध्यबाधकभाव सांवृत होता है, (साथ ही) भाष्य में तद्व्यापी असत्ख्याति के विरोधों को प्रसाधित किया गया है।^१

(क) बाधक ज्ञान की अशक्तता

और भी; ज्ञान अपने को ही बाधित नहीं करता, क्योंकि स्वसंवेदन की ही बलवत्ता होती है (और ज्ञान स्वसंवेदन रूप होता है)।^१ विरोधी कह सकता है कि अन्य ज्ञान के द्वारा भी, तद्विषय, भिन्नविषय, समकाल या असमकाल की दृष्टि से तो बाधा संभव है। (ज्ञानश्रीमित्र का उत्तर है—) इस में प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि यह कहना असंगत है कि 'वह तद्विषय है और वह बाधित भी करता है।' भिन्नविषय के द्वारा भी उस की किस प्रकार की बाधा होगी? यदि कहा जाय कि अपने विषय के उपस्थापन मात्र से बाधा होगी, क्योंकि परविषयक ज्ञान भिन्न होने के कारण उसे बाधित करेगा, तो प्रश्न है कि उस (=स्वविषयक और स्वसंवित्स्वरूप वाले ज्ञान) के द्वारा ही इस की (= भिन्न विषयक ज्ञान की) बाधा क्यों नहीं होगी? समसमय वाले अन्य ज्ञान से भी बाधा संभव नहीं, क्योंकि एक काल में सजातीय वा विजातीय प्रतिभास होने पर किस की किस के द्वारा बाधा

होगी? कालभेद की स्थिति में तो बाधा के लिए बिल्कुल ही अवकाश नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में 'महासम्मत' (=भगवान् बुद्ध) और 'श्रीहर्ष' (के मध्य बाध्यबाधकभाव होने) का प्रसंग उपस्थित होगा।⁷

यदि किसी एक ज्ञान की उस से अन्य ज्ञान के द्वारा निर्विषयता का प्रतिपादन बाधा का अर्थ हो, तो वे दोनों ज्ञान भिन्नकालिक होंगे। अतः उन में विरोध नहीं होगा, क्योंकि वहाँ पर ज्ञान में यदि वह अर्थ प्रतिभासित होता है, तो वह विद्यमान ही है, अतः बाधा कहाँ से/क्यों कर होगी? यदि वह ज्ञान में वहाँ पर प्रतिभासित नहीं होता है, तो अविद्यमान उस अर्थ का अन्य निषेध (= पहले से अपर एक और निषेध) किये जाने से क्या लाभ? पुनश्च, तद्विषय को ही बाधन नहीं कहा जाता, यह स्पष्ट है।

(ख) बाध्यबाधकभाव के सांवृतत्व का प्रतिपादन

विरोधी (= माध्यमिकादि) कह सकते हैं कि (प्रकाशस्वरूप विज्ञान में) जो आरोपित है उस का, अर्थात् आकार का, निषेध होता है। (ज्ञानश्रीमित्र का उत्तर है कि) यह प्रतिपादित किये जाने के कारण कि आरोप भी मात्र व्यवहारसिद्ध है, उस पर अर्थात् समारोप पर आश्रित बाधा भी सांवृतत्व का अतिक्रमण नहीं कर सकती। इस पर विरोधी की आशंका है कि जैसे प्रतीत्यसमुत्पादभेद का आश्रय लेकर ज्ञानान्तर की उत्पत्ति मात्र को भ्रम कहा जाता है, तद्वत् 'यह इसी प्रकार का है अन्य प्रकार का नहीं' इस प्रकार के ज्ञानाकार का उदय ही बाधा होगी। (ज्ञानश्रीमित्र कहते हैं कि) यदि ऐसा है, तो सिद्ध हुआ कि तात्त्विक दृष्टि से बाधा नहीं है। यह ज्ञान (=ज्ञानविशेष) किसी आकार का परिग्रह करके उत्पन्न हुआ है इस से कुछ भी साधित या बाधित नहीं होता, जैसे कि नीलज्ञान के अनन्तर होने वाले मीठेपन के ज्ञान से (न ते कुछ साधित ही होता है और न बाधित ही)। विरोधी कह सकता है कि अन्य स्थान पर बाधा का अध्यवसाय होने से (एक) विशेष (स्थिति) संभव है। (ज्ञानश्रीमित्र का उत्तर है कि) जो अध्यवसाय⁸ मात्र से सिद्ध है उसे ही सांवृत कहा जाता है। इस कारण आलम्बनशून्यता का प्रतिपादन बाधा का अर्थ नहीं है।⁹ और भी; सालम्बनता और उस से इतर अर्थात् निरालम्बनता के भेद से द्वैत में यह गति संभव है इसे मान भी लें, (परन्तु) स्वरूप मात्र में पर्यवसित वेदन की स्थितियों वाले ज्ञान की अद्वैतता की स्थिति में 'अन्योन्यबाध' है ऐसा मानना/कहना महान साहस (ही) है।¹⁰ कहा भी गया है —

जैसे एक ज्ञान की सिद्धि पर बुद्धि से नहीं होती, वैसी ही स्थिति बाधा की भी है (= उसी प्रकार एक ज्ञान की बाधा अन्य ज्ञान से नहीं होती)।

पूर्वपक्ष— विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि भी परतः ही होती है, उसी प्रकार बाधा भी परतः सिद्ध हो जायगी।

उत्तर पक्ष— इस (पक्ष) में सार नहीं है। संवृत्ति की व्यवस्थिति में अनुमान पर अनास्था कर बना रहना शक्य नहीं, अन्यथा कहीं पर भी प्रवृत्ति और निवृत्ति का आचरण नहीं हो सकेगा।¹¹ अनुमान का आश्रय लेने पर विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि बलात् आपड़ती है। (हाँ) तत्त्व की परिनिष्ठा में अनुमान के लिए अवकाश नहीं है। इस प्रकार यदि संवृत्ति में ही बाध स्वीकार है, तो जो प्रतिभासमान होता हुआ बाह्य (रूप) में अध्यवसित हुआ है उस (अध्यवसित बाह्य) में ही बाधा होगी। यह अध्यवसित बाह्य जो भी हो, जड़ अथवा बुद्धिरूप, बाधसिद्धि वही पर ही होगी। ऐसा है, तो भी बाह्यरूप का अतिक्रमण करके (प्रमा के) साधन व्यापार नहीं करते।¹²

पूर्वपक्ष— क्या यहाँ विकल्प के द्वारा ज्ञानरूप ही चित्र का अवलम्बन कर (उसे) धर्मी बनाया जाता है कि (= उस के कारण) बाह्य में ज्ञान के साधन व्यापार नहीं करते?¹³ (इस स्थिति में) आप का यह (कथन) अश्वारूढ़ पुरुष द्वारा अश्व के विस्मरण वृत्तान्त जैसा है।¹⁴

उत्तरपक्ष— जब कोई ज्ञान उद्देश्य (=लक्ष्य या अभीष्ट) हो, तो उस स्थिति में जो भी बाह्यरूप में होता है वह बाह्य है। वहाँ यह चिन्ता व्यर्थ है कि वह ज्ञानरूप है अथवा जड़रूप। अतः यह सिद्ध हुआ कि बाधक सर्वथा बाह्यग्राह्यव्यवस्था का नान्तरीयक होता है।

पूर्वपक्ष— ये (प्रतिभासित होने वाले और बाह्य के रूप में अध्यवसित होने वाले) नील-पीतादि ही बाधविषय के रूप में अभिमत हैं। अतः यह चिन्ता निरर्थक है कि वे (=नील-पीतादि) जड़रूप हैं या ज्ञानरूप। (पुनश्च,) उपर्युक्त स्थिति में बाधक (ज्ञान) को यह भय नहीं रहेगा कि वहाँ पर (=प्रतिभासमान नील-पीतादि में) ज्ञानस्वरूप की स्थिति है। उसी प्रकार बाद के ज्ञान (=बाह्य के रूप में अध्यवसित नील-पीतादि के ज्ञान) में भी वह भय नहीं रहेगा। (ऐसी स्थिति में) शक्ति अर्थात् अर्थक्रियाशक्ति (अर्थनिबंधन से) उन्मुक्त हो जायगी।¹⁵ (यहाँ द्रष्टव्य है कि) बाह्यग्राह्यव्यवस्था की अपेक्षा¹⁶ के अनुसार (इस प्रसंग में) कोई नियम नहीं है। अतः यह नील बाधित ही है, भले ही वह बाह्य हो अथवा मानस। अथवा इस संदर्भ में उसे एक व्यवस्था

भी माना जाय तो भी यह नीलाकार" बाधित ही है। क्या बन्धु का बैरबुद्धि से किया गया प्रहार मरणप्रद नहीं होता?

उत्तरपक्ष— हम पुनः कहते हैं कि इस संदर्भ में विज्ञप्तिमात्रता के सिद्ध हो जाने पर बाधक के लिए अवकाश नहीं है। उपर्युक्त संदर्भ में नान्तरीयक बाधक के होने पर ग्राह्यग्राहकव्यवस्था सिद्ध होती है इस से हम (विज्ञानवादियों) पर कोई अनिष्ट नहीं आपड़ता, क्योंकि (वैसा होने पर भी) हमारे इस साध्य की सिद्धि हो जाती है कि जैसे विज्ञप्तिमात्रता के अनन्तर वासनाबल से ग्राह्यग्राहकव्यवस्था का विप्लव उत्थापित होता है उसी प्रकार की स्थिति बाधा की है। उस (=ऊपर उल्लिखित) नान्तरीयकता का परिहार नहीं किया जा सकता।¹⁸ जो अविषयीकृत होता है उसका बाध नहीं होता, क्योंकि बाध का निश्चय 'यह इस के द्वारा बाधित है' इस रूप में होता है। 'जो विषयीकृत है वही बाध का विषय है' इसके 'पर', 'स्व' और 'उभय' ये तीन विकल्प संभव हैं।¹⁹ बाधक से अन्य के द्वारा विषयीकरण की स्थिति में तो अबाध्यमानता की ही स्थिति रहेगी। यदि बाधक के द्वारा भी विषयीकरण को मानें, तो भी बाधा के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वहाँ पर विषयीकरण के स्वरूप का ही निर्भास होता है। यदि कहा जाय कि वहाँ पर बाध्यमानत्वेन ही स्वरूप का निर्भास होता है, तो यह पक्ष असिद्ध है, क्योंकि स्वरूपनिर्भास स्वरूपसत्त्व है और बाध्यमानता उस का असत्त्व। यदि इस पर आप कहें कि दोनों ही क्रम से होंगे, तो स्वरूपनिर्भास की स्थिति में तो बाधा होगी नहीं, क्योंकि उस स्थिति में सम्बन्धियों की प्रतीति नहीं होती है और यदि स्वरूपनिर्भास ही बाधा है, तो उस समय (=स्वरूपनिर्भास की स्थिति में) वहाँ पर 'स्वरूप' का ही आकर्षण है तो बाधा कहाँ पर होगी? स्वरूपनिर्भास होने पर कालान्तर में भी बाधा नहीं हो सकती; क्योंकि कालान्तर में उस का स्वयं ही अभाव रहता है। कालान्तर में सैकड़ों बाधाओं के होने पर भी कुछ भी होने वाला नहीं है। उभय (= 'स्व' और 'पर' दोनों) द्वारा विषयीकरण की स्थिति में भी संवादकता (=अविसंवादित्व या अव्यभिचारिता) की ही सिद्धि²⁰ होने से वहाँ बाधा का गंधमात्र भी नहीं रह सकता। उसी के द्वारा अथवा अन्य के द्वारा अन्य का विषयीकरण मानना उपपन्न (=युक्तिसंगत) नहीं है, क्योंकि विज्ञान की सिद्धि हो जाने पर ही तद्विषयक चिन्ता के फलित होने की स्थिति बनती है। स्वयमेव विषयीकरण की स्थिति में भी बाधा के लिए अवकाश नहीं, (क्योंकि) —

“जो स्वयंनिर्भासी है ऐसे ज्ञान को यदि अन्य ज्ञान विषय बनाता है, तो क्या जो दूसरे को बाधित (=प्रताड़ित) करने में पर्याप्त रूप से बलशाली है वह अपनी ही मूर्द्धा को प्रताड़ित या बाधित करे।”

“इस युक्ति से नील मेरे द्वारा बाधित है” ऐसा, अपने आकार में पर्यवसित होने वाला, विकल्प भेद (=प्रकाश और आकार के मध्य भेद) की स्थिति में उस (=नील) की वार्ता का भी स्पर्श नहीं करता।” अभेद की स्थिति में भी यह कहना कि ‘नील को उस का स्वरूप ही बाधा पहुँचाता है’ दुस्साहस मात्र है। ‘स्व’ और ‘पर’ अर्थात् उभयात्मक स्थिति के द्वारा संवेदन के प्रसंग में संवाद होने की बात पहले ही कही जा चुकी है।” (पुनश्च,) जो विषयीकृत नहीं है उस का बाध मानने पर अतिप्रसंगदोष होगा, (क्योंकि) ‘बाह्यग्रह में अधिमुक्ति होने पर बाह्य का स्पर्श न करने वाले भी ज्ञानोदय में तत्सिद्ध (= बाह्यसिद्ध) बाधव्यवहार है’ ऐसी प्रत्याशा होगी। (इस प्रकार) यह विप्लव (=उपद्रव) (बाह्य की) अधिमुक्ति में ही निहित है और तत्कृत बाधा भी एक विप्लव ही है। बाह्यग्रहव्यवस्था का परिभव हो जाने पर सब कुछ स्वसंवेदन में निमग्न हो जाता है, अतः किस के द्वारा किस की कौन सी क्रिया होगी? इस अवस्था में भी ‘इदमेवम्’ ऐसा (कथन) करना भी संभव नहीं है, क्योंकि वैसा करने पर पुनः द्वैत की स्थिति उभरेगी। कहा भी गया है—

“यह (सब कुछ) विज्ञान मात्र ही है” ऐसा भी उपलम्भतः कहा जाता है। उस के आगे जो कुछ भी स्थापित किया जाता है, विज्ञानमात्र में उस की स्थिति नहीं होती।”

पूर्वपक्ष— तत्त्वनिश्चय होने पर भी जिस प्रकार असाक्षात्कारी पुरुष की प्रवृत्त्यादि का अवकाश रहता है उसी प्रकार बाधा के लिए भी अवकाश संभव है।

उत्तरपक्ष— वैसा होने पर भी कोई दोष नहीं होगा। जिस प्रकार नैसर्गिक अविद्या के चलते ‘यह वेद्य है’ ‘प्राप्य है’ इत्यादि प्रकार की प्रवृत्ति बाह्यव्यवस्था के अधिकार से ही होती है उसी प्रकार नैसर्गिक अविद्या के कारण बाह्यव्यवस्था में ही बाधन की बात संभव है। विज्ञान मात्र की चिन्ता में सभी प्रकार के व्यापारों से उपरति हो जाती है। अतः बाध्यबाधकभाव सांवृत ही है। तत्त्वाभिमुख होने के समय इस के लिए अवकाश नहीं। उस समय साधनों का अवतार भले ही न हो, केवल इस का (= साधनों का) अनवतार भी (साध्य को) बाधित नहीं करता²³, क्योंकि (उस के बिना भी) साध्य की सिद्धि हो जाती है।

‘उस के (=साध्य के) असिद्ध होने पर इतर (=स्वसंवेदन से इतर इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण) का अवतरण नहीं होता’ इस से विरोधी को परितोष होने के अतिरिक्त और कौन से अर्थ की पुष्टि होती है? ऐसी स्थिति में उस के (=साध्य के) साधक प्रमाण की वृत्ति की अपेक्षा से बाधक का प्रयोग जब किया जाता है तभी यह (=बाध्यबाधकभाव) दोष होगा। तब इतना विलम्ब कौन करेगा? प्रथमतः ही उस का (=बाधक का) प्रयोग कर देना चाहिए। (ज्ञानश्रीमित्र की टिप्पणी है कि) यह सारा कुछ ‘भौतआचमन’ मात्र है।²⁴ जब यह सिद्ध है कि विज्ञप्तिमात्रता की प्रतीति हो जाने पर प्रमाणों का अवतरण नहीं होता, तो विज्ञप्तिमात्रता के स्वरूप की अनुपस्थिति की अपेक्षा करके ही प्रमाणों का प्रयोग होगा। ऐसी स्थिति में विज्ञप्तिमात्रता के (स्वरूप-) निरूपण की अपेक्षा होने पर प्रकाशतया ही विज्ञानता की सिद्धि होगी (और परिणामस्वरूप) बाधक के अवतरण की स्थिति हट जायगी और यदि बाधक का अवतरण होगा भी, तो ‘नेदं विज्ञानम्’ (=यह विज्ञान नहीं है) इस आकार में होगा। अतः सिद्ध हुआ कि जहाँ—जहाँ बाध है वहाँ—वहाँ वह बाध्यस्वरूप में ही होता है²⁵, विज्ञानरूप में नहीं।’

(ग) प्रमाणविषयक विवाद

पूर्वपक्ष— ऐसी स्थिति में (हमारे पहले किये गये विवेचन में) कौन साधनदोष होगा?²⁶

उत्तरपक्ष— आपका प्रश्न अनुचित है, क्योंकि विज्ञप्तिमात्रता के सिद्ध होने पर अनुमान के ही उत्थान का अभाव होता है, अतः साधनदूषण के लिए अवकाश ही कहाँ है? कहा भी गया है— “अनुमानादि बहिर्बोध में ही प्रमाण होता है, स्वसंवेदन में नहीं। स्वसंवेदन के सिद्ध होने पर ही उस के ज्ञान से अनुमान का उद्भव होता है।”²⁷ ऐसा है, तो भी यदि विरोधी को दोषोद्भावन के द्वारा ही संतोष होता है, (तो हमारा कहना है कि) — “पर रूप की सिद्धि नहीं होने पर न तो धर्मी और हेतु के स्वरूप की सिद्धि हो पाती है और न व्याप्ति की भी। क्या यह दूषण नहीं है?”

और भी: ‘यह व्यापकानुपलम्भ अथवा अन्य (कोई) बाधक है’, इत्यादि प्रकार के विचार अनुमान से भिन्न संभावना के विषय नहीं हैं, अर्थात् अनुमान ही हैं। चूँकि साध्य, साधन और दृष्टान्त के द्वारा ही सभी विवादारूढ़ बचनों का आविर्भाव होता है, अतः अनुमान का आक्षेप किये बिना (= बिना अनुमान को माने) साध्य, साधन और दृष्टान्त प्रकृतोपयोगी

(=संदर्भ विशेष में उपयोगी) होने के योग्य नहीं होते। इसी कारण 'अद्वैतबिन्दुप्रकरण'²⁸ में हम ने प्रदर्शित किया है कि सांवृतावस्था में प्रमाण अवश्य स्वीकार होने चाहिए। यदि सांवृतावस्था में प्रमाण स्वीकार न हो, तो 'यथा तथा' ही सही, किस की किस प्रकार की अर्थसिद्धि होगी? (पुनश्च, प्रमाणों के सम्बन्ध में वस्तुस्थिति यह है कि) प्रत्यक्ष का त्याग कर अनुमान यथार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि परंपरया भी सम्बन्ध (=साध्य और हेतु, हेतु और पक्ष तथा पक्ष और साध्य के सम्बन्ध) के ग्रहणादि में नियतोपयोगितया प्रत्यक्ष से अनुमान का प्रादुर्भाव होता है। 'प्रत्यक्ष के प्रमाण न होने पर भी अनुमान प्रमाण है' ऐसा मानना जन्म देने वाले की अकुलीनता में कुलीनता का आशंसन (=की आशा करना) है।²⁹ स्वरूप में इस आकार का संवेदन, भ्रान्तिरूपी कल्पना के दूर हो जाने से प्रत्यक्ष ही है। अतः बाधा के लिए अवसर ही कहाँ है? (क्योंकि)–

"स्वसंवित्ति ही अन्य (= इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनुमान) प्रमाणों की योनि (=उद्भवस्थल या उत्स) है। यदि वह प्रमाण नहीं, तो इस जगत् में कोई प्रमाण कैसे होगा? अतः स्वसंवित्ति से साधित या बाधित होने में अथवा उस की (= स्वसंवित्ति की) बाधा या सिद्धि में अन्य (=इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनुमान) क्षम नहीं।"

प्रश्न : विज्ञप्तिमात्रता के साधनकाल में स्वयोनिप्रत्यक्ष (=स्वसंवेदनप्रत्यक्ष) का परिभव आप कैसे मानते हैं?

उत्तर : आप का कथन उचित नहीं, क्योंकि साध्य की सिद्धि हो जाने पर 'स्व' का भी परिभव हो जाता है। "जैसे वृक्ष की दो" (सूखी) शाखाओं के (परस्पर) घर्षण से जनित अग्नि अपने आश्रयभूत वृक्ष को भी दग्ध कर देती है, उसी प्रकार परवित्ति भी अपने को जला डालती है, तो वह अपराधी कैसे?"

अन्य परवेदन रूप विज्ञप्ति के साधन बाधित होते हुए अपने प्रामाण्य को नहीं बतलाते। जिस प्रकार 'अग्नि की दाहकता सर्वव्यापी है' उसी प्रकार पूर्वोक्त श्लोक में आत्महनन विषयक विचार सभी के लिए है। इस में किसी एक का अपराध नहीं है। प्रत्यक्ष के परिभव से ही व्यापकानुपलम्भ का प्रामाण्य बन पाता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। अन्य परवेदनों (=स्वसंवेदन से अन्य इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनुमानादि के ज्ञान) के प्रामाण्य की अवधि तक ही विज्ञप्ति के साधनों का प्रामाण्य होता है। किन्तु

जब अर्थक्रियाशक्ति की प्रतीति से व्यवहृत सत्तावान् वस्तु के अविमर्श से प्रत्यक्षाभाव के कारण वह सत्तावान् के रूप में व्यवहृत नहीं होता, तब व्यापकानुपलंभ का कोई अपराध नहीं है; क्योंकि वह (=व्यापकानुपलंभ) स्वयं अबाधित है और यदि उस का पर से बाध मानें, तो प्रत्यक्ष और व्यापकानुपलंभ दोनों ही समान रूप से दण्ड के पात्र हैं। स्वसंवेदन का स्वरूप ऐसा है कि उस में शक्ति का प्रतिभास नहीं होता। (दूसरी ओर) जब व्यापकानुपलंभ ही नायक हो, तो (वह) इन्द्रियादि अन्य प्रत्यक्षों के प्रामाण्य का उपहनन नहीं कर सकता, क्योंकि व्यापकानुपलंभ के उत्पन्न होने के पूर्व ही स्वसंवेदन उत्पन्न हो गया रहता है और उस के द्वारा भ्रान्ति, विकल्प और शंका रूप कलंक दूर कर दिये गये रहते हैं। अतः जो स्वसंवेदन से रक्षित है उस की हानि कहीं से/किसी से भी नहीं होती।

प्रश्न— जिस प्रकार प्रत्यक्ष के अप्रामाण्य में अनुमान की प्रमाणता नहीं होती, उसी प्रकार यह भी शक्य है कि अनुमान के अप्रामाण्य में प्रत्यक्ष की प्रमाणता न हो। (यदि विज्ञानवादी कहें कि माध्यमिकों का यह पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि) प्रत्यक्ष से गृहीत धूम रूप लिंग से उत्पन्न अनुमिति में दोष उत्पन्न होता है, तो यह प्रत्यक्ष का ही दोष है। यदि प्रत्यक्ष का दोष न मानें, तो लिंगज अनुमिति में दोष कैसे आया?" यदि (विज्ञानवादपक्ष से) कहा जाय कि हमारे लिए प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों का प्रामाण्य है, तो (पुनः यह आशंका होगी कि) संवित्ति भले ही अपनी स्थिति को प्रकाशित करे, क्योंकि अपने में भ्रम संभव नहीं, तथापि एकानेकतया होने वाले क्रूर अन्त को संवित्ति भी कैसे रोक सकेगी? पुनश्च, संवित्ति के साध्य की स्थिति, अर्थात् स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के नान्तरीयक तुल्य प्रभावश्री वाले प्रत्यक्ष (=इन्द्रियप्रत्यक्ष) और अनुमान के (बीच आप विज्ञानवादियों द्वारा मान्य) इस सम्बन्ध/भेद को कौन जानेगा, (अथवा उस को जानने में) किस का सामर्थ्य है?"

उत्तर— (आप माध्यमिकों का) उपर्युक्त आक्षेप भी युक्त नहीं है। परवेदनैकनियत व्यापकानुपलंभ की व्याप्ति के ग्राहक परवेदन रूप ही प्रत्यक्ष (=इन्द्रियप्रत्यक्ष) के साथ समकक्षता होवे, क्योंकि उस स्थिति में ही एक के प्रामाण्य को स्वीकार करने पर नान्तरीयक रूप से अन्य का प्रामाण्य घटित होगा। स्वसंवेदन तो प्रत्यक्ष का भी आश्रय है और अनुमान का भी (जबकि) ये दोनों स्वसंवेदन के आश्रय नहीं हैं, अतः दोनों में से कौन स्वसंवेदन के समकक्ष तुला पर आरोहण करेगा? पुनश्च, प्रत्यक्ष और

अनुमान में विषयभेद है। अनुमान परोक्ष विषय वाला है, अतः स्वरूपसाक्षात्कारी प्रत्यक्ष में अनुमान का अवतरण नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में प्रमाणों की बलाबल की चिन्ता के लिए अवकाश कहाँ। अतः जो प्रत्यक्षादि से निराकृत नहीं होता, उसे 'पक्ष' कहा जाता है।"

(घ) विधि-निषेध विषयक विवाद

पूर्वपक्ष— प्रत्यक्ष होने पर भी अव्यवहृत स्वभावान्तर का व्यवहार में उपयोग हो इस के लिए अनुमान (का प्रयोग) अनुमत अर्थात् मान्य है।

उत्तरपक्ष— प्रतिभासी का ही कहीं पर भी विधि अथवा निषेध नहीं होता। प्रतिभासमान सींग, पूंछ आदि के विशेष सन्निवेश की स्थिति में 'गाय' आदि शब्द का प्रयोग होता है। कहीं केवल भूतल का ज्ञान होने पर वहाँ घटादि के निषेध का व्यवहार होता है, अथवा ज्ञानगत चन्द्रद्वय के आकार में अबाह्य चन्द्रद्वय का व्यवहार होता है। किन्तु जो प्रतिभासी हैं उन के ही विधि अथवा निषेध का व्यवहार नहीं होता। उसी प्रकार यहाँ पर भी प्रतिभासी नीलादिआकार के निषेध का जब प्रस्ताव किया जाता है, तो जहाँ तक नीलादि के कल्पित धर्मों के निषेध की बात है वहाँ तक निषेध किया जा सकता है। जैसे, 'स्व-पर', 'ग्राह्य-ग्राहक', 'ज्ञाप्यज्ञापक', 'नित्यक्षणिक', 'एकानेक', 'द्रव्यगुण' तथा त्रिगुणमयत्वादि अथवा स्पर्शादिस्वरूप रूपान्तर के सहचारी संचित परमाणुओं की अर्थक्रियाशक्तिपर्यन्त जो कुछ है वह प्रपंचशब्दवाच्य है, क्योंकि ये सभी कल्पित मात्र हैं। इस कारण प्रकाशमान धर्मों में अप्रतिभासी जो अन्य धर्म हैं उन्हीं का ही, व्यवहार का आश्रय लेकर, विधान अथवा निषेध हो सकता है, क्योंकि (भले ही वे अप्रतिभासी अन्य धर्म) शब्दादि व्यवहार से विरहित हों तो भी (अथवा) शब्दादि व्यवहारयोग्य हों तो भी, उन की वह योग्यता परोक्षरूप होती है। कहीं पर भी उस का निषेध नहीं किया जा सकता जो प्रतिभासी हो।" न्यायप्रसूति आचार्य धर्मकीर्ति ने कहा है—

("अनादिविकल्पाभ्यासरूप वासना से उद्भूत विकल्प में प्रतिभासमान (1). भावाश्रय, (2). अभावाश्रय और (3). उभयाश्रय नामक इन त्रिविध शब्दार्थधर्मियों में) जिस शब्दार्थधर्मों के भावरूप उपादान नहीं हैं उस (बुद्धचारुद शब्दार्थधर्मों) के निषेधार्थ हम 'अनुपलब्धि हेतु' का प्रयोग करते हैं। अतः विकल्पसमारुद शब्दार्थधर्मों का अभाव बताना हमारा अभीष्ट नहीं, क्योंकि तत्प्रतिपादक शब्द का प्रयोग हम पाते हैं।" साथ ही उन्होंने ने यह भी कहा है कि 'प्रमाणप्रतिक्षिप्त हेतु का कोई विषय नहीं होता।"")

प्रश्न : प्रतिभासी का विधान व्यर्थ है, क्योंकि उस का प्रत्यक्ष हो रहा है और उस का निषेध ही अशक्य होगा, क्योंकि जो प्रत्यक्ष है उस का निषेध नहीं होता। इसी प्रकार जो अप्रतिभासी है उस का निषेध नहीं हो सकता, साथ ही उस का विधान करना भी व्यर्थ है, क्योंकि वह है नहीं। अतः प्रश्न है कि ऐसी स्थिति में शब्दव्यापार कहाँ पर होगा?

उत्तर : तत्त्वतः कहीं पर भी नहीं। शब्द के द्वारा कहीं पर भी जो विधि अथवा निषेध रूप व्यापार किया जाता है वह प्रतीत्यसमुत्पाद के समाश्रय से होने वाला व्यवहार मात्र है। उदाहरणार्थ, 'वृक्ष है' जब ऐसा शब्दव्यवहार किया जाता है, तो शब्दसंकेत के चलते तदनुकारी प्रवृत्त्याक्षेप से (तदनुरूप) परिकल्प का उत्पादन मात्र होता है और इसी का ही शब्द के द्वारा वृक्ष की सत्ता के रूप में विधान किया जात है। इसी प्रकार 'वृक्ष नहीं है' इस शब्दसंकेत के द्वारा वृक्ष की कामना करने वालों में उस वृक्ष की व्यावृत्ति (= प्रतिषेध) के आक्षेपक (आरोप करने वाले) विकल्प का उदय मात्र होता है। यही 'वृक्ष' का निषेध है। 'है' और 'नहीं' से बिना संयुक्त होकर प्रयुक्त होने पर 'वृक्ष' शब्द से शाखादिमान वृक्ष के आकार रूप विकल्प का उदय मात्र होता है, अर्थात् उस स्थिति में केवल 'वृक्ष' के विकल्प का उदय मात्र होता है और वह 'वृक्ष' शब्द प्रवृत्ति और निवृत्ति कराने में असमर्थ रहता है। इस स्थिति में वह विधि अथवा निषेध का कारण नहीं होता। किन्तु 'अस्ति' पद से सन्निविष्ट होने पर वही शाखादिमान 'वृक्ष' सत्ता से उपचीयमान जैसा प्रतिभासित होता है। पूर्व की अपेक्षा यहाँ आकार विशेष का उल्लेख मात्र होता है। जब उस (=वृक्ष) के साथ 'नास्ति' पद का योग होता है, तो भी वह सत्ता से अपचीयमान जैसा प्रतीत होता है। यहाँ पर विधि के द्वारा होने वाले अनुभव की अपेक्षा क्षीण आकार का ही उल्लेख होता है। अतः प्रवृत्त्यादि भी तदनुरूप ही होती है।

इसी प्रकार लिंग में भी विकल्पविवर्ती अग्नि के (हेतु) 'धूम' और 'जल' का दर्शन होने पर (विकल्पोत्पत्ति होती है), किन्तु (उनमें क्रमशः) संवादनियम और इतर (=विसंवाद) द्वारा भेद होता है। स्फुरित हो रहे बुद्ध्याकार का न तो कहीं विधान हो सकता है और न निषेध। अस्फुरित सत् अथवा असत् बाह्य का भी तत्त्वतः विधि-निषेध नहीं हो सकता, तथापि जो बाह्य कल्पित मात्र हैं ऐसे बाह्य का ही विकल्पोदय के द्वारा विधि अथवा निषेध विषयक व्यवहार होता है, क्योंकि जो सामने स्फुरित हो रहा है उस

का सैकड़ों नकार के द्वारा भी निषेध नहीं हो सकता। कल्पना की स्थिति बहिर्मुखपरामर्श से भिन्न होती है, क्योंकि तरु मात्र के विकल्प की स्थिति में (वृक्ष की) सत्ता और असत्ता सम्बन्धी निर्णय अवधानावस्था के आरोप (=अध्यारोप) के कारण होता है। अतः बहिरूपतया आरोपित आकार शब्दवाच्य हैं और इसे ही 'अपोह' कहा जाता है, क्योंकि शाब्दज्ञान में उसी का प्रतिभास होता है। अध्यवसाय के कारण जिस का भी निश्चय होता है वह विजाति से व्यावृत्त बाह्य होता है, ऐसा हम पहले ही निवेदन कर चुके हैं।³⁵

अतः तत्त्वतः न तो आकार का प्रतिषेध होता है और न बाह्य का। निषेध केवल बाह्य का होता है और वह भी केवल व्यावहारिक दृष्टि से। आकार का तो संवृत्तितः भी निषेध नहीं होता।³⁶ कारण यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से उस की इच्छा नहीं की जाती और लोक निसर्गतः बहिर्मुखी होता है। ऐसी स्थिति में जब परिस्फुरित बाह्य में भी आकार के निषेध के लिए अवकाश नहीं है, तो स्वसंवेदन में स्फुरित हो रहे आकार के निषेध के लिए अवकाश कहाँ? अतः "प्रमाणतः असिद्ध की हेतुओं के द्वारा रक्षा संभव नहीं। जो स्वसंवित्तितः सिद्ध है वह तत्त्वतः भी सिद्ध है।"³⁸

यद्यपि साध्यसाधनभाव सांवृत ही हैं, तथापि सत्संवृति³⁹ का ही आश्रय लेना चाहिए, (क्योंकि) यदि प्रत्येक व्यक्ति के लिए पृथक्-पृथक् साधनादि की व्यवस्था की जाय, तो सभी के लिए सब कुछ सिद्ध हो जायेगा। जो अन्य काल में विद्यमान है उस का भी यदि बाध हो जाता है, तो हेतुओं के द्वारा उस की रक्षा की बात नहीं की जासकती। विरोधियों की स्वसंवित्ति के विषय में यदि विमति हो, तो (यह द्रष्टव्य है कि) "प्रमा का त्याग कर जैसे विश्व की स्थिति संभव नहीं, वैसे ही स्वसंवित्ति के बिना प्रमाण जीवित नहीं रह सकते। शास्त्र में हम ने इस का विवेचन कर दिया है।"⁴⁰

अतः स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के सिद्ध (= स्थापित) हो जाने पर व्यापकानुपलंभादि अनुमान के लिए अवकाश नहीं रह जाता। फलतः विरोधियों की प्रतिज्ञा में प्रत्यक्षबाधा है।

(ङ) सत्ताविषयक विवाद

अथवा जिस सत्ता का आप (=माध्यमिक) प्रमाणों द्वारा निषेध करना चाहते हैं उस का स्वरूप क्या है? यदि सत्ता से आप का अभिप्रेत अन्य

दर्शनों में प्रसिद्ध सत्ता से है, तो इस के ये प्रकार संभव हैं— (1). सत्तायोग (जैसा कि नैयायिक मानते हैं), (2) स्वरूपसत्ता, (3) त्रिलक्षणसत्ता और (4) स्वकल्पितसत्ता (=उपर्युक्त तीनों से विलग प्रकार की सत्ता)। यदि आप का पक्ष उपर्युक्त प्रकार का है, तो कोई विवाद नहीं है। यदि (इस प्रसंग में आप माध्यमिक) लोकप्रसिद्ध (सत्ता) की बात करें, तो वह भी (क) शक्तिलक्षणा और (ख) प्रतिभासलक्षणा (रूप में द्विविध) है। (इस संदर्भ में) कहा गया है—

“जो युक्तियुक्त उपलंभ है उस को प्राप्त न करने वाली (शक्तिलक्षणासत्ता) नहीं है।” (तात्पर्य यह है कि युक्तिसंगत उपलंभ प्राप्त न करने वाली शक्तिलक्षणासत्ता हमें मान्य नहीं है।)⁴¹

(आचार्य ज्ञानश्रीमित्र का कहना है कि यदि आप माध्यमिक लोकप्रसिद्ध सत्ता में ज्ञातशक्तिक) शक्तिलक्षणा (सत्ता) को बाधित करेंगे, तो सिद्धसाधन (का दोष) होगा।⁴² (माध्यमिकों का प्रत्याक्षेप है कि) अज्ञातशक्तिक होने पर भी प्रतिभासलक्षणा (सत्ता) के बाधन में वह ही न्याय (=तर्क) प्रयुक्त है।⁴³ (ज्ञानश्री का उत्तर है कि) सत्तासाधन के समय बाधित होने वाले पक्ष के रूप में (=तदा) (हमारे समक्ष) प्रतिभास लक्षण (वाला सत्त्व) नहीं रहता (न वा प्रतिभासो लक्षणं), अपितु (= किं तु) शक्ति ही रहती है, अतः हमारे पक्ष को क्षति नहीं होती।⁴⁴ (ऐसी स्थिति में) कल्पित शक्ति आदि से रहित प्रकाशमात्र स्वरूप वाला⁴⁵ होने से आकारादि में सत्तानिवारण⁴⁶ कैसे संभव है? क्योंकि (आकार की) सत्ता स्वसंवेदनसिद्ध है (और आप की) प्रतिज्ञा से प्रत्यक्ष बाधित होता है।” इस प्रकार (हम विज्ञानवादियों के मत में भी) ये सभी पदार्थ निःस्वभाव हैं, भले ही (हम विज्ञानवादियों और आप माध्यमिकों में निःस्वभावता को सिद्ध करने की) रीति का भेद है,⁴⁸ तथापि यदि शक्तिलक्षणा के अर्थ में (हम विज्ञानवादी) पदार्थों को प्रकाश से अन्य कहते साथ ही उन्हें स्वभावशब्दवाच्य मानते, तो सिद्धसाधन (दोष) होता। यह ज्ञातव्य है कि प्रतिभास में शक्ति नहीं ही होती। क्योंकि (तत्त्व की) प्रपंचशून्यता हमें अभीष्ट ही है, अतः हमें (उस की) एकानेकविरहता अभिमत ही है। (यदि माध्यमिक कहें कि) स्वभावहानि के भय के कारण वह (=एकानेकविरहता) (विज्ञानवादियों को) अभीष्ट नहीं होनी चाहिए, तो (प्रत्युत्तर में हमारा प्रश्न है कि) ‘प्रतिभास के करण सत्त्व सिद्ध है’ क्या (हमारे) इस (पक्ष) से (आप=माध्यमिक) आहत हैं?

II

(क) 'चित्राद्वैत' कहने का तात्पर्य

(ज्ञानश्री प्रश्न उठाते हैं कि जब प्रतिभास ही स्वभाव हैं) तो फिर चित्राद्वैत कैसे है (क्योंकि चित्र का प्रतिभास मानना ही अनेक को मानना है)? (उत्तर देते हुए ज्ञानश्रीमित्र कहते हैं) — "ग्राह्यग्राहकद्वय का न होना अद्वय या अद्वैत है, अथवा संवित् से भिन्न जड़ कुछ नहीं है इस लिए अद्वैत है, अथवा एक और अनेक (=अभेद और भेद) नहीं बनेगा इस लिए अद्वैत है, अथवा आश्चर्यतः अद्वैत है। ज्ञान के साकार होने से यह विचित्र आकार दिखायी पड़ता है, यही चित्राद्वैत कहने का तात्पर्य है। नृपति की भाँति एक ध्वनि होती है चित्राद्वैत में।⁴⁹ चित्र में आप अनेकत्व को ढूँढ़ें, किन्तु तात्त्विक अनेकत्व उस में नहीं रहेगा और न अनेकत्व का आप निर्णय ले पायेंगे। अतः चित्र में अनेकता को संवृति में मानना पड़ेगा।

(ख) चित्र को 'एक' मानने / कहने का विश्लेषण

'सत्त्व या तो एक का होता है अथवा अनेक का, किन्तु चित्र न तो एक है और न अनेक ही, फिर भी इस का सत्त्व है' यह आश्चर्य ही चित्र शब्द का अर्थ है। अथवा, जैसा हम पहले कह आये हैं कि व्यवहार में यह कहा जाता है कि भगवान् एक हैं। भगवान् को अनेक मानना व्यवहार में उपयोगी नहीं होता है। जिस प्रकार भगवान् मेरे द्वारा / मुझ से आश्रय देने वाला होता है (=मैं / व्यक्ति न रहूँ / रहे, तो भगवान् आश्रयणीय किस का होगा? जिस प्रकार भगवान् भक्त के द्वारा आश्रयणीय होता है) उसी तरह मुझे भी होना चाहिए।⁵⁰ इस प्रकार की ही, एकत्व का अध्यवसाय करने वाली प्रवृत्ति उपयोग वाली होती है। अनेकता के द्वारा हम किंचित् भी फल का आकलन नहीं करते, क्योंकि पृथक् धर्मों का कहीं पर भी व्यापारवान होना असिद्ध है। अतएव, तात्त्विक दृष्टि से यद्यपि दोनों (=एक और अनेक) ही अनुपपन्न हैं, तथापि फल की अपेक्षा से एकत्व का व्यवहार किया जाता है, किसी अन्य दृष्टि से नहीं; जैसे कि अनित्यता का व्यवहार इस लिए किया जाता है, क्योंकि शांति के लिए वह अनुकूल है।

प्रश्न— उपर्युक्त विश्लेषण को मान लेने पर भी यह प्रश्न है कि नीलान्तर—आलवलयपर्यन्त⁵¹ जो सजातीय से इतर ज्ञानचक्र है, जिसे चित्र कहा जाता है और उसे आप भी 'एक' ही कह कर व्यवहार करते हैं, वह कैसे?

उत्तर— “जितना कुछ बाह्याध्यवसाय है केवल वही सब कुछ ‘एतद्’ और ‘इदम्’ के रूप में पृथक् है। वस्तुतः वह सब कुछ विज्ञान ही है और हाथ-पैर आदि भी चित्र में ज्ञानात्मक ही हैं।”

मन में विवर्तों को छोड़कर हाथ-पैर आदि मात्र ही चित्र⁵² नहीं है। अतएव, अन्य विवर्तों की भाँति ‘चित्र’ शब्द की वाच्यता में अन्तर्भावित होने के कारण विज्ञप्तिमात्रता के विचार में ‘एक’ का व्यवहार किया जाता है। यहाँ पर भी वैसा ही समझना चाहिए जैसा कि भगवान् में ‘गोचर’ तथा ‘भाग’⁵³ की अन्य व्यवस्थाएँ कही गयी हैं। अथवा तत्त्वतः ‘एक’ शब्द ‘अद्वैत’ की भाँति अनेक की व्यावृत्ति मात्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस कारण प्रकाशरूपेण नीलादि सत् ही है और वह न तो एक है और न अनेक ही। (इसी को) संग्रह (रूप में धर्मकीर्ति द्वारा लिखा गया) है —

“चित्रविज्ञान में जो नीलादि हैं वे चित्रज्ञान के आत्मभूत हैं। आकारान्तर से रहित केवल अकेले नीलादि का दर्शन शक्य नहीं है, क्योंकि आकारान्तर के साथ ही नील या पीत का वेदन होता है। यदि कहा जाय कि पीत के अनुभवकाल में जब ज्ञानाकार नील का अनुभव नहीं होता है तब उस का विवेचन शक्य है, तो हमारा कहना है कि अनुभूयमान पीत से नील को पृथक् करने वाला विवेचक रूप से नील अर्थ में ही गिरता है, अर्थात् उस समय परोक्ष नील अर्थ ही है। अपरोक्षता ज्ञान का स्वभाव है। अतः जिस का विवेचन किया जाता है वह अज्ञान है और जो ज्ञान है उस का विवेचन नहीं होता है।”⁵⁴

(ज्ञानश्रीमित्र श्लोक की व्याख्या में लिखते हैं—) श्लोक में ‘चित्र’ शब्द द्वारा एकता का निषेध किया गया है जब कि विज्ञान रूप प्रतिपत्ता (=ग्राहकविज्ञान) एक का सूचक है। प्रतिभासमान रूप से ‘चित्र’ एक ज्ञान में अन्तर्गमित होता है, अतः अनेकता का निषेध किया गया है। ‘ज्ञानोपाधि’ का प्रयोग जड़ से व्यावृत्ति के द्वारा ज्ञान रूप होने से बाधक का अभाव बतलाने के लिए है। नील से अन्य जो पीतादि आकार हैं उन को हटाकर अथवा उन का त्याग कर ‘चित्र’ को देखा नहीं जा सकता, अर्थात् ‘वह अशक्यदर्शन है’ ऐसा कह कर भेदव्यवहार में प्रयोजनाभाव को बतलाया गया है। यदि (वह = पीत) उस से (= नील से) पृथक् रूप में भी, एक (=अकेले) रूप में भी प्राप्त रहता और उस से उस के साध्य की सिद्धि होती, तो अनेक का व्यवहार उचित होता; जैसे कि ‘चैत्र’ से ‘मैत्र’ आदि में अनेक का व्यवहार उचित है।

किन्तु वैसा (यहाँ पर) नहीं है, अतः 'चित्र' को 'एक' ही कहना उचित है। श्लोक में 'तं हि' के द्वारा उसी बात को कहा गया है जिस को मैं ने 'यावदेव बहिः' श्लोक में कहा है।⁵⁵ चित्र शब्द की ज्ञानरूपता के परामर्श में बुद्ध्यादिसमूह के अर्थ में चित्रादि एक शब्द विहित है। इसे वहाँ पर भी उसी प्रकार प्रवर्तित करना चाहिए। 'विवेचयन्' का अर्थ है भिन्न करते हुए या भेद करते हुए; 'पुनः' अर्थ में ही पतित होता है' अर्थात् अर्थ का ही पृथक्भाव अथवा जन्मग्रहण होता है, ज्ञान का नहीं।' क्योंकि (कहा गया है कि)–

यद् यथा भासते ज्ञानं तत्तथैवानुभूयते ।

इति नामैकभावः स्याच्चित्राकारेऽपि चेतसि ।।⁵⁶ प्र.वा. 2.221

'नाम' का अर्थ है संज्ञावाचक शब्द। वह तात्त्विक नहीं, अपितु एकभाव रूप है। 'भासते' का अर्थ है, उत्पन्न होता है।⁵⁷ 'उत्पन्न होता है' ऐसा इस अभिप्राय से कहा जा रहा है क्योंकि जो प्रकाशमान है केवल उसी का जन्म होता है। उपर्युक्त प्रकार का ही ज्ञान, जो न तो एकस्वभाव वाला होता है और न अनेकस्वभाव वाला, चित्राद्वैत कहा गया है और वह बाधा से रहित होता है। श्लोक में यह दर्शाया गया है कि क्षणिकत्वादि की भाँति 'चित्र' संवृति में एकव्यवहारगोचर है।

(ग) चित्र के न 'एक' और न 'अनेक' होने का विवेचन

आशंका— 'तथापि वह अर्थात् चित्र (अनेक) नहीं है और वह अनेक—व्याप्त है' यह ज्ञान का विषय कैसे बन सकता है? इस प्रकार के कथन से किसी भी हेतु (= एक और अनेक के लिए दिये जाने वाले हेतु) के विषय में आश्वस्तता की स्थिति नहीं बनेगी। एकानेक में एक का निषेध होने पर अन्य का विधान घटित होता है और चूँकि दो से अन्य तीसरी कोई राशि (=कोटि) नहीं होती, अतः भावों का न तो 'उभयपक्ष' संभव है और न तो 'अनुभयपक्ष'। अतः लक्षणकरणकाल में ही प्रकारों द्वारा व्याप्ति सिद्ध है।⁵⁸ यदि (विज्ञानवाद के पक्ष से) कहा जाय कि वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि उस के चलते उभय (=एक और अनेक दोनों) का अभाव (चित्राद्वैत, जो कि युक्त स्थिति है, में) बाधक नहीं है, तो (विज्ञानवाद का) यह पक्ष असंबद्ध है।

उत्तर— आप ने सत्य ही कहा कि यह असम्बद्ध है, क्योंकि उन दोनों (=एक और अनेक) के बिना भी (चित्राद्वैत रूप) सत्त्व की सिद्धि हो जाती है, फलतः (आप ने एकत्व और अनेकत्व रूप दो प्रकारों के द्वारा ही व्याप्ति के सिद्ध

होने की जो बात कही है उस) व्याप्ति के लिए कोई योग नहीं बनता। यदि विरोधी प्रश्न करे कि ऐसा कहाँ संभव होता है, तो हमारा उत्तर है कि विज्ञान (का जो साकारात्मक) शरीर (है उस) में ही (एकानेक के बिना भी चित्राद्वैतविज्ञान के सत्त्व की सिद्धि हो जाती है)। (विरोधी यह प्रश्न खड़ा कर सकता है कि) तो क्या (आप चित्राद्वैतवादी) इस समय (=विवाद के वर्तमान स्थल पर) जिसे हम 'पक्ष' बना रहे हैं उसके ही द्वारा (=चित्रविज्ञान को 'पक्ष' बनाने से ही) (हमारे अभिमत में) व्यभिचार की उद्भावना कर रहे हैं? (ज्ञानश्रीमित्र का प्रतिप्रश्न के रूप में उत्तर है—) 'यदि प्रमाणव्यापार के द्वारा (आप के पक्ष में हम) व्यभिचार दिखा देते हैं', तो उस में कौन-सा दोष है? (क्योंकि प्रमाणव्यापार के द्वारा ही अनुमानप्रयोग की निर्दुष्टता का निर्धारण होता है अतः पक्ष से) अन्य धर्मियों (= 'सपक्ष' और 'विपक्ष') में भी प्रमाणव्यापार के द्वारा ही 'साधारण अनैकान्तिकदोष' (का निर्धारण) किया जाता है। (ऐसी स्थिति में) यदि यहाँ पर (=विरोधी के अभिमत में) (एक और अनेक रूप दो प्रकारों से व्याप्त चित्रविज्ञान को) 'पक्ष' बनाने मात्र से (व्यभिचार से) रक्षा हो जाती है, तो वहाँ पर भी (= 'सपक्ष' और 'विपक्ष' स्थल पर भी) (व्यभिचार से त्राण को) कौन रोक सकता है? जब ऐसा है कि 'विपक्ष' में (हेतु का) साक्षात् ईक्षण (=दर्शन) होने पर भी 'साध्यक्षति' नहीं होती, तो (अन्यत्र भी, अर्थात् अनुमान के अंगीभूत अन्य स्थलों पर भी) संदेह मात्र से कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं है^{५०}। ऐसी स्थिति में 'अनैकान्तिक' नामक दोष (का अस्तित्व ही) नहीं रहेगा।

(इतना ही नहीं, तब) असिद्धि आदि दोष (का) भी (अस्तित्व ही) नहीं रहेगा, क्योंकि प्रत्यक्षबाधा के अनादर^{५१} से जिस किसी भी हेतु से साध्य की सिद्धि हो जायगी^{५२}। पुनश्च, इसी प्रकार प्रमाण से अनिश्चित साध्य वाले हेतु के प्रति अनाश्वस्तता की स्थिति में भी कोई क्षति नहीं होगी। (अतः जब उपर्युक्त प्रसंगों में ऐसी स्थिति है) तो अन्यत्र (= 'विपक्ष', 'सपक्ष' अथवा 'दृष्टान्तस्थल' में) शंका के लिए अवकाश कहाँ? उपर्युक्त कारण से ही हम (=चित्राद्वैतवादी) कह रहे हैं कि लक्षणकरणकाल में भी (एकानेकतया वस्तुव्याप्ति) सिद्ध नहीं है। एक का निषेध होने पर अन्य का विधान घटित होता है और इस से यह भी प्रतिफलित होता है कि 'एक और अनेक से भिन्न (उभय और अनुभय रूप) अन्य कोटि नहीं होती' ऐसी व्यवस्था बाह्य (वस्तु के क्षेत्र) में ही संभव है (ज्ञान या अन्तः क्षेत्र में नहीं)। परन्तु द्रष्टव्य है कि बाह्य

(के क्षेत्र) में भी प्रत्यक्षबाधा का उपदर्शन अशक्य है, क्योंकि “यह ‘पूर्व’ की अपेक्षा से”⁶² न भिन्न है और न अभिन्न है” ऐसा कथन नहीं किया जा सकता। (स्वसंवेदन के सिद्ध होने से स्वप्रकाशी ज्ञान में “न भिन्न है और न अभिन्न है” ऐसा कथन संभव है, क्योंकि) स्वसंवेदन एक नैसर्गिक दुर्ग है। (परन्तु बाह्य के क्षेत्र में ऐसा संभव नहीं, क्योंकि) बाह्य वस्तु में भेद और अभेद का अभाव मानने पर व्यवहार के लोप का प्रसंग उपस्थित होगा; जैसा कहा गया है—

“न ह्यनलं पश्यन्”⁶³— अग्नि को न देखते हुए इत्यादि।

अतः हमारे विरोधियों की उपर्युक्त युक्ति केवल बाह्य के विषय में ही संभव है और तदनियत भी। ऐसी स्थिति में यदि बाह्यानुरोध से बुद्धि को भी व्यवस्थापित किया जाता है, तो वह भी एक व्यवस्था मात्र होगी। जैसे कहा गया है—

“यथा बाह्यं ग्राह्यम्”⁶⁴ जैसे बाह्य को ग्राह्य कहा जाता है।

पूर्वपक्ष— (आप ने ऊपर जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है) तो भी (उस से) आश्वस्तता की स्थिति नहीं बनती, क्योंकि (आचार्य धर्मकीर्ति ने प्र.वा. 2.358 में) “अन्यथैकस्य भावस्य.....” इत्यादि (के द्वारा जो कहा है उस) को ज्ञानाधिकारतः भी कहा है।

उत्तरपक्ष— (उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य ने जो कुछ कहा है) वह माध्यमिक—विशेष के अभिप्राय से कहा है। (वस्तुतः प्र.वा. 2.358 को आचार्य ने) प्र.वा. 2.209— “यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते.....” इत्यादि को सुस्पष्ट करने के लिए कहा है।

आशंका— तब तो, जिस प्रकार ‘न तो एक और न अनेक’ की बात (आप विज्ञानवादी) करते हैं, उसी प्रकार ‘न प्रकाश और न अप्रकाश’ की भी बात (आप को) करनी चाहिए।

उत्तरपक्ष— ऐसा नहीं है, क्योंकि ‘प्रकाश का निषेध’ प्रकाश से ही बाधित है, जबकि ‘एक और अनेक’ के संदर्भ में ऐसी बात शक्य नहीं है। फलतः हमारे पक्ष को आप द्वारा असम्बद्ध कहे जाने का कोई उपयोग नहीं है।

‘एकत्व और अनेकत्व की हानि की रक्षा अवस्तुत्व के द्वारा हो जाती है, किन्तु स्वसंवित्ति द्वारा भक्षित होने से अवस्तुत्व की रक्षा कौन कर सकता है?’

अतः जो एक और अनेक का विभेद करते हैं उनका (चित्राद्वैत/ अनुभव के) असत्त्व की सिद्धि करने के लिए ज्ञान में अधिकार नहीं है, क्योंकि 'विषयविशेष की अपेक्षा से व्याप्ति की सिद्धि होती है' ऐसा मानने में अनैकान्तिकता का प्रसंग उपस्थित होगा। यदि आप विरोधी सामान्य के द्वारा व्याप्ति की सिद्धि के निश्चय (=अध्यवसाय) की बात कहें, तो व्याप्य सत्त्व के सिद्ध होने के कारण एकत्व और अनेकत्व इन दोनों में ही एकत्व के ही द्वारा उस के संभव होने की बात माननी पड़ेगी, क्योंकि अनेकत्व वहाँ पर समर्थ नहीं है, अतः वहाँ पर एकत्व की स्थिति का होना युक्त है। अनेकत्व की स्थिति में परमाणुपर्यन्त दलन आपतित होगा, अतः परमाणुओं के प्रतिभास द्वारा ही कोई स्थिति बनेगी। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी है नहीं (=परम सूक्ष्म होने से परमाणु का प्रतिभास नहीं होता)। अतः जो ज्ञान जिस रूप में, अर्थात् अनणुरूपतया या अनेक की व्यावृत्तितया, भासित होता है 'वह उसी रूप में अनुभूत होता है' अर्थात् ('भू' धातु के) प्राप्ति अर्थ वाला (भी) होने से 'अनुभूत होता है' का अर्थ हुआ कि वह उसी रूप में अनुगमित अथवा उपगमित होता है।⁶⁵

(प्र.वा. 2.221 की द्वितीय पंक्ति "इति नामैकभावः स्याच्चित्राकारेऽपि चेतसि" की व्याख्या करते हुए ज्ञानश्री लिखते हैं—) श्लोक में 'नाम' शब्द अव्यय है (और वह) उपगम (=अंगीकार या संभावना)⁶⁶ के अर्थ में है और यह बात (=ज्ञान की एकभावता या अव्ययता)⁶⁷ जड़ की नहीं होती, क्योंकि जड़ की वैसी संवित्ति ही नहीं होती। इस से आचार्य धर्मकीर्ति ने यह प्रदर्शित किया है कि (चित्र) ज्ञान रूप है, (जड़ रूप नहीं)। जब ज्ञानपरमाणुओं में दिग्भागादि का भेद अनुपपन्न है और जब ऐसी स्थिति है कि अनंश के द्वारा सांशराशि का आरंभ नहीं होता, तो बहुत्ववाद के पक्ष में ज्ञानपरमाणुओं का भी आभास नहीं हो सकेगा, फलतः चित्र का आभास एकत्व पर ही आकर ठहरता है, रुकता है।⁶⁸ अतः जो ज्ञान जिस प्रकार से, अभेद लक्षण के कारण भासित होता है वह उसी प्रकार से अभेदपूर्वक ही अनुभूत किया जाता है, क्योंकि 'अनुभव ही सत्ता है' ऐसा न्याय है। 'इति नाम' इत्यादि सुगम है। 'नाम' शब्द संभावना के अर्थ में है। इस से (=उपर्युक्त विवेचन से) वह (अर्थात् 'जो ज्ञान जैसा भासित होता है वह उसी रूप में अनुभूत किया जाता है' इस प्रकार का ज्ञान का 'एकभाव') अभ्युपगम (परंपरागत मान्यता) से आयात है, यह असिद्ध हो जाता है (क्योंकि ऊपर विवेचना में हम ने उसे तर्कतः प्रसाधित किया है)।

(घ) चित्राद्वैत के प्रसंग में भेद और अभेद की समस्या का विवेचन आशंका— 'चित्र' एक है ऐसा कहना अनुभवविरुद्ध है, क्योंकि (चित्रगत) नीलपीतादि का भासन भेदपूर्वक ही होता है। पुनश्च, 'चित्र अनेक नहीं है' यह (पूर्व के कथन का) अनर्थान्तर (ही) है। (हम जानते हैं कि) 'एक' के पर्युदास के रूप में वह (=अनेक) समझा जात है, तो फिर 'चित्र' एक कैसे हुआ? पुनश्च, यदि अनेक एक का पर्युदास नहीं माना जाय, तो उस स्थिति में प्रकाश को भी जड़ होना चाहिए।

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि संवेदनव्यापार नीलादि में ही होता है, भेद में नहीं। भेद और अभेद की व्यवस्था^{68a} तो निबंधनानुसार (=अभ्यासवासना के प्रकारानुसार) होती है। यदि विरोधी कहें कि 'यह नील है', 'यह पीत है' के रूप में परस्परतत्त्वतया होने वाली प्रतीति ही भेदप्रतीति है, तो (हमारा उत्तर है कि) बाह्यार्थवाद में यह होता है (आन्तर जगत् या चित्त के क्षेत्र में नहीं)। अभ्यासवासना के चलते बुद्धि पर भी इस को थोप दिया जाता है या बुद्धि पर भी इस का समारोप हो जाता है। ज्ञान के क्षेत्र में चिन्ता का विषय यह होना चाहिए कि ये (नीलपीतादि) आकार (ज्ञान से) भिन्न हैं या अभिन्न। यदि विरोधी कहे कि ज्ञान के क्षेत्र में भी अभ्यासवासना के अनुसार ही व्यवस्था होती है, तो हमारा उत्तर है— "न खलु सर्वा— अर्थात् ज्ञान या अन्तः क्षेत्र में सभी व्यवस्थाएँ अभ्यासवासना के अनुसार नहीं होतीं। (कारण बतलाते हुए ज्ञानश्री लिखते हैं—)

"बाह्य स्थिरता और चलता में नियत होता है। वह अन्य से प्रकाश्य, अर्थक्रियाशक्ति से सत्तावान् (और अभ्यासवश्य भी) है। किन्तु आकारभेद के कारण बिल्कुल विजाति (स्वभाव वाला) चित् तत्त्व इस के विपरीत होता है और वह अभ्यासवश्य नहीं।"⁶⁹

'अन्तः' का अर्थ है चित्त (=विज्ञान) और वह बहिःसत् से नितान्त भिन्न होता है।

प्रश्न— बुद्धिरूप विज्ञान या चित्त नित्यता और चलता में नियत क्यों नहीं है? क्या तत्त्वतः पूर्वापर की अप्रतीति के कारण?

उत्तर— एकानेक पर अधिमोक्ष के द्वारा पूर्वापर की वित्ति होने पर ही नित्यता अथवा चलता की स्थिति संभव होती है, अतः उस का (=एकानेक पर विश्वासपूर्व होने वाली पूर्वापर की वित्ति कां) (चित्त के क्षेत्र में) अभाव होने के कारण नित्यता और चलता दोनों असत् हैं (अतः विज्ञान इन दोनों से नियत नहीं है)।

(फलतः) चित्रविज्ञान में अनेकता मानने पर व्यतिवेदन और स्थूलाभास के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा, साथ ही अनाभास के प्रसंग का भी निवारण नहीं हो सकेगा।⁷⁰

(ड) प्र.वा. में चित्र को 'एक' कहने के आकूत का विवेचन

पूर्वपक्ष— (चित्रज्ञान के प्रसंग में) एकत्व को यदि मानेंगे, तो नील के ही पीत होने का प्रसंग उपस्थित होगा। कहा भी गया है— "ज्ञान (=चित्रज्ञान) के प्रसंग में अभेद (=एकत्व) मानने पर भी वह स्थिति चित्रत्व की विरोधिनी होगी।"

उत्तरपक्ष— किन्तु (चित्रज्ञान का) ऐसा (=अनेक के रूप में) आभास तो होता नहीं। तथापि (धर्मकीर्ति कहते हैं)—

"जो ज्ञान जिस रूप में भासित होता है वह उसी रूप में (सभी प्रतिपत्ताओं द्वारा) उपगमित होता है, अर्थात् अनुभव में आता है। अतः चित्राकार ज्ञान में यदि एकत्व हो, तो वह संभव है (=उसमें दोष नहीं)।"

श्लोक में 'नाम' शब्द अंगीकार के अर्थ में है। (अतः श्लोक की द्वितीय पंक्ति का) यह अर्थ है— 'यह कहना सत्य है कि जैसे चित्रज्ञान को अनेक नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार उसे एक भी नहीं कहना चाहिए। (तथापि,) क्योंकि विज्ञान प्रकाशस्वरूप होता है, अतः उस की सत्ता का ('एक' भी न कहने के कारण) अपह्नव न हो जाय (=विज्ञान की सत्ता छिप न जाय) (इस कारण 'एकत्व' का अभिधान किया जाता है) और ऐसा कहने में कोई अनिष्ट नहीं है। आशय यह है कि— "यदि चित्रज्ञान को अनेक की तरह एक भी न कहा जाय, तो उस स्थिति में भी संवित् (=ज्ञान, विज्ञान) सिद्ध है और इस से अनेकत्व बाधित हो जाता है और यदि ज्ञान के एकत्व को माना जाय, तो इस से आप के अभीष्ट को ही क्षति पहुँचती है। दोनों ही स्थितियों में हमें कोई क्षति नहीं होती।"

अनेकत्व के द्वारा भी विज्ञान की सत्ता के सिद्ध होने में हमारा कोई अपराध नहीं है। हम न्यायानुयायी विज्ञानवादी केवल एकत्व की शिक्षा देते हैं। उदाहरणार्थ, यह कथन है—

"(चित्रज्ञान में दृष्ट नीलपीतादि में) तुल्ययोगक्षेमत्व के कारण (चित्रज्ञान) की सत्ता में एकता को कोई क्षति नहीं होती। किन्तु एकत्व के विरोधी अनेकत्व में तुल्ययोगक्षेमत्व का अभाव रहने से (चित्रज्ञान) की सत्ता में अनेकत्व की स्थिति नहीं होती।"

(पुनश्च, ऊपर पृ. 448, पंक्ति 10 में पूर्वपक्ष की ओर से) जो यह कहा गया है कि (चित्रप्रतिभास में) यदि एकता मानी जाय, तो 'नील को पीत ही होना चाहिए', तो वह दोष बाह्य में ही होता है, क्योंकि अर्थक्रियाभिलाषी की बाह्य में भी प्रवृत्ति होती है और अर्थक्रिया की प्रासंगिकता भी बाह्य में होती है।

प्रश्न— क्रियार्थिता के व्यतिरेक की स्थिति में भी 'जो नील है उस की क्या पीत होने में अर्हता है'?

उत्तर— क्या इस प्रश्न से आप को यह अभिप्रेत है कि जिस का जो स्वरूप है वह अपने उस स्वरूप से वियुक्त हो जाय? यदि प्रतिवादी प्रश्न करे कि क्या ऐसा होना श्रेष्ठ है? तो हमारा उत्तर है कि यदि परोक्षता की स्थिति हो, तो ऐसा भी हो सकता है/या ऐसा भी होना चाहिए। अतः बाह्यता में नानात्व की ही स्थिति होती है, भले ही नील और पीत में प्रवृत्तिसंकरादि न हो। जहाँ तक ज्ञान की बात है तो वहाँ नील-पीतादि वाला प्रतिभास (=चित्रप्रतिभास) एकत्वेन ही होता है। जिस प्रकार मध्याह्न में सम्मुख महान सूर्य दुःसह होता है उसी प्रकार आप विरोधियों को अपने बाह्याधारित व्यवहार के अभ्यास के कारण हमारा पक्ष दुःसह हो रहा हो, तो इस में हम क्या कर सकते हैं? पुनश्च, आप के पक्ष में प्रत्यक्षविरोधादि भी ऊपर तैरते हुए दृष्ट हो रहे हैं। (भले ही) 'पीत से अन्य नील है' इस विकल्प की वृत्ति स्ववेदनव्यापार का अनादर करके होती है, (परन्तु) इन्द्रियज्ञान के व्यापार का अनुसरण करने वाला एकत्व स्वरसवाही होता है, अर्थात् इन्द्रियज्ञान के व्यापार का अनुसरण करने वाले की एक ही ध्वनि होती है। अतः 'चित्र एक है' इस में कोई विरोध नहीं है। चित्र की स्थिति नील-पीतादितया ही होती है, नानात्वेन नहीं। केवल व्याप्ति के अभिमानवश 'नानात्वेन' ऐसा कहा जाता है और व्याप्ति बाह्य में ही होती है। अथवा चित्र अनुवाद मात्र है। आप बाह्यार्थवादियों को जो नाना रूप में मान्य है वह बुद्धिरूप होने से एक ही होता है। अतः यहाँ अश्वारूढ़ वाला दोष⁷ नहीं है।

(च) बुद्धि में नानात्व के न होने का प्रतिपादन

आशंका— भेद का तात्पर्य है देश, काल और आकार का भेद। इस प्रसंग में ऐसा कोई नियम नहीं है कि वह भेद बाह्य के विषय में होता है अथवा बुद्धि के।

समाधान— इस प्रसंग में नियम ही है। यदि बाह्य में भेद न मानकर अभेद ही माना जाय, तो अर्थक्रिया के प्रतिनियम की जो व्यवस्था है वह ही नहीं रह सकेगी और यदि अर्थक्रिया का अनादर किया गया, तो मात्र प्रतिभास शेष रहेगा, फलतः विशेष की स्थिति नहीं बनेगी और उस का अभाव होगा। बुद्धि (=विज्ञान) के विषय में भेद (=नानात्व) मानने पर उस के स्वरूप की ही हानि घटित होगी, क्योंकि बुद्धि को अर्थक्रिया की अपेक्षा नहीं होती और प्रकाशस्वरूप होने से ही उस का सत्त्व है। ऐसी अवस्था में बुद्धि में भेद मानने पर उस में प्रकाश के अभाव की प्रसक्ति होगी। यद्यपि भेदपूर्वक बाह्य और बुद्धि का निर्बन्ध मानने पर दोनों की स्वभावहानि घटित होगी, तथापि उतनी दूर न जाकर (यह द्रष्टव्य है कि) अणुसंघात के रूप में ज्ञात बाह्य वस्तुओं में भेद होने पर भी वे सत्त्व को धारण किये रहती हैं और अण्वाकार का उल्लेख न होने पर भी एकघन स्थूलाकार ज्ञान के साथ लेशमात्रसंवाद होने पर उन के (=बाह्य वस्तु के) ग्रहण होने की बात कही जाती है; जबकि उस प्रकार की बात ज्ञान के प्रसंग में नहीं कही जाती।⁷² पुनश्च, बाह्य की हानि भी हमें पीड़ा नहीं पहुँचाती, क्योंकि बाह्य को मात्र अभिमान के आधार पर व्यवस्थापित किया जाता है, अथवा मात्र अभिमान से बाह्य का निर्वाह हो सकता है। बुद्धि प्रत्यक्षसिद्ध है, अतः उस में बाह्य और अर्थक्रियाशक्ति ये दोनों कैसे रह सकते हैं? क्योंकि बाह्यरूप (न कि आन्तररूप) परामर्श से प्राप्त होने के कारण भेद होने पर स्वभावभ्रंश निश्चित है।⁷³ इस कारण आचार्य ने कहा—

“तं हि पतत्यर्थे विवेचयन्”⁷⁴— (अनुभूयमान पीत से नील को) पृथक् करने वाला विवेचक रूप से नील अर्थ में गिरता है।

“जिस प्रकार अर्थशक्ति के न रहने पर भी केशादिसदृश (=केशोण्डुक) का भास होता है उसी प्रकार ‘यह मुझ से अन्य है’ इस प्रकार का पृथक्करण करते हुए लोग बाह्य में ही (गिरते हैं)।”

यह स्वसंवेदनानुसार (की गयी व्यवस्था) नहीं है, अपितु बाह्याभ्यासवासना का विलास मात्र है। इस कारण जिस प्रकार बुद्धि अपनी अपराधीन वेदनत्वादि विशेषताओं के कारण बाह्य से असाधारण स्वरूप वाली है, उसी प्रकार युक्तिसामर्थ्य के चलते देश, काल और आकारकृत भेदव्यवस्था के असिद्ध होने से भी बुद्धि का बाह्य से असाधारण (=विलक्षण) स्वरूप वाली होना युक्तिसंगत है।

प्रश्न— यदि देश, काल और आकारकृत भेद और अभेद (की व्यवस्था) अथवा देश, काल और आकार से इतर द्वारा की गयी भेद और अभेद (की व्यवस्था) बाह्य में ही है, तो बुद्ध्याकार में (आप की) क्या गति (=स्थिति) होगी?

उत्तर— वहाँ पर भी हमें (व्यवहार में भेद और अभेद की व्यवस्था) इष्ट है, जैसे व्यवहार में हमें यह व्यवस्था अभीष्ट है कि भगवान् एक हैं, क्योंकि नियमनिबंधन के अभाव में सन्तानान्तर के साथ भी अभेद का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। इसी कारण (प्र.वा. 2.220 में) 'नीलादिश्चित्रविज्ञाने...' इत्यादि को कहा गया है।

'बुद्धि एकभाव रूप है' का तात्पर्य है कि वह अशक्यविवेचन स्वरूप वाली है, वह अनेक नहीं है। अथवा 'बुद्धि' यह संज्ञा जड़ की नहीं होती।⁷⁵ 'नाम' शब्द (बुद्धि के) प्रतियोगी (=जड़) की अक्षमताओं का अवधारणपरक है।⁷⁶ 'जो (ज्ञान) जिस रूप में (भासित होता है)' का अर्थ चित्रविज्ञान के संदर्भ में यह हुआ कि जो चित्र (ज्ञान) भी एकज्ञान के अन्तर्गत होने के रूप में भासित होता है, 'वह वैसा ही अनुभूत होता है' इस उक्ति का अर्थ है कि एक संतान में होने वाली प्रज्ञप्ति के गोचर चित्त का ही एकत्व होगा। इस प्रकार का (बुद्धि में होने वाला) अशक्यविवेचनत्व पराभिमत⁷⁷ का नहीं होता, (अतः हमारे पक्ष में) दोष नहीं है। (चित्र में) इस प्रकार (के) स्वातन्त्र्य के होने से व्यापकानुपलब्धि की असिद्धि (प्राप्त होती) है, क्योंकि बुद्ध्याकारों (=साकार ज्ञानों) का ही एकत्व उपपन्न होता है।⁷⁸

(छ) एकत्व और अनेकत्व के विषय में आशंकायें और उन का समाधान

आशंका— एकत्व और अनेकत्व क्या है, कहाँ पर होता है (और) क्या इन में वस्तुव्याप्ति होती है?

उत्तर— निरंश एक है (और ऐसे निरंश) ही समुच्चित (अवस्था में) अनेक हैं⁷⁹। संसार में लोग एकानेकतया ही वस्तु की स्थिति में निष्ठा रखते हैं।

पूर्वपक्ष— परार्थानुमान में जो स्वदृष्ट है उसे उपयोगी कहा जाता है। विचार का आश्रय लेने पर संवृति में वह स्वयमेव उसी रूप में उपलब्ध होता है, अतः दोष नहीं है।

उत्तरपक्ष— संवृति में भी वह ही दृष्ट कहा जाता है जो प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है, (किन्तु) कहीं पर भी प्रत्यक्ष (=इन्द्रियप्रत्यक्ष) और

अनुमान के द्वारा निरंश उपलंभगोचर नहीं होता। अतः उन का समुच्चय रूप अनेक भी उपलब्ध नहीं होता, तो इन के द्वारा वस्तुव्याप्ति की सिद्धि कैसे? पुनश्च, वस्तु नाम की कोई चीज या सत्ता नहीं होती और हमारे विरोधी (=प्रासंगिक माध्यमिकों) की यह मान्यता है कि वे स्वतन्त्र हेतु का प्रयोग करने के लिए अपने को अधिकृत नहीं करते।^{१०} (ऐसी स्थिति में यदि वे) प्रसंग को (=जिस का प्रसंग चल रहा है उस को, अर्थात् एकानेकतया व्याप्ति के द्वारा वस्तुस्थित को) साधित करेंगे, तो उस की परिणति उन की ही मान्यता के विपरीत होगी जिस से उन के (मत में) ही 'साध्यविरोध' का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः जिन को एकानेक के द्वारा वस्तु की व्याप्ति अभिमत है उन के लिए ही यह दण्ड हो सकता है। जिन के लिए प्रकाश मात्र से वस्तुता की सिद्धि होती है उस के लिए वह अनुरोध कैसे होगा।^{११} अतः व्याप्ति स्वयं उपपादयितव्य है। यदि एकत्व और अनेकत्व के साथ वस्तु का सम्बन्धबोध कहीं पर हो, (तो व्याप्ति का उपपादन हो सकता है, परन्तु) वह (=सम्बन्धबोध) ही नहीं है, अर्थात् (सम्बन्धबोध का) अभाव है (=शून्यमिति)। (ऐसी स्थिति में) व्याप्तिशून्यता (के होने से) साधन समाप्त हो जायेंगे।

आशंका— एकानेकव्यवहार वस्तुस्थिति है और लोक में प्रमाणसिद्धि का निश्चय तब तक बना रहता है जब तक व्यवहार है। हाँ विचार करने पर वह ठहर नहीं पाता, यही माध्यमिकों का पक्ष है, साध्य है। अतः हमारी बात हमारे पक्ष की बाधक कैसे हो सकती है?

उत्तर— आप (=माध्यमिकों) का साध्य है स्वभावाभाव को प्रदर्शित करना, एकानेक का अभाव ही (प्रदर्शित करना आप का साध्य) नहीं, क्योंकि (आप द्वारा) अनेकत्वाभाव में साधन का उपन्यास नहीं किया गया। आप (=माध्यमिक) जो कह रहे हैं वह असिद्धता का उद्भावन नहीं है, अपितु उसे 'व्याप्तिअसिद्धि' कहा जाता है। व्यापकानुपलंभादि में विपर्ययव्याप्ति ही शरण है और वह (=व्याप्ति) कभी/कहीं व्याप्य और व्यापक के असिद्ध होने से असिद्ध होती है और प्रमाण द्वारा विषय न बनाये जाने के कारण सांवृत दृष्टि से भी असिद्ध होती है। पुनश्च, व्यवहारमात्र ही प्रमाण नहीं है और न ही (प्रमाण का आप ने) कोई अन्य लक्षण ही दिया है। अप्रमाण में भी प्रमाणव्यवस्था का नियम प्रयोज्य नहीं है।

‘यदि व्यवहार में प्रमाण आप को अभीष्ट हो, तो यह सारा विचार भी संवृति ही है और यदि संवृति में भी प्रमाण आप को इष्ट नहीं, तो जो लोग ‘यथा तथा’ ही रूप में प्रमाणव्यवस्था की बात करते हैं उन के पक्ष की ही जीत होगी।’

अतः प्रमाण का निराकरण करने के द्वारा ही व्याप्ति की कल्पना करके उस के अभाव के कारण यदि सर्वत्र भावों (=पदार्थों) का अभाव आप को अभिमत हो, तो बन्ध्यासुत का वियोग भी आप के लिए अबन्ध्य होगा। ऐसी स्थिति में बन्ध्यासुत के साधन में आप की साध्यप्रत्याशा भी शुभ होगी। इस लिए कहीं पर व्याप्य और व्यापक का ज्ञान होने की स्थिति में व्याप्ति के ग्राहक रूप प्रत्यक्ष अथवा विपर्ययबाधक⁸² नाम से ज्ञात अनुमान की प्रवृत्ति में व्यापकाभाव से व्याप्याभाव का निश्चय युक्त है। क्षणिकता के द्वारा भी सत्ता की व्याप्ति को साधित करना क्षणिकता के निश्चय का नान्तरीयक होना ही है और यही उस की उपलब्धि है। उसी प्रकार प्रस्तुत प्रकरण में भी यदि सामान्य के द्वारा भी उन दोनों में सत्ता का आक्षेप माना जाय, तो उस का नान्तरीयक हेतु इष्ट का विघातक होने से ‘विरुद्ध हेतु’ होगा; और यदि प्रस्तुत प्रकरण में सामान्य के द्वारा भी सत्ता का अनाक्षेप भी माना जाय, तब भी व्याप्ति सिद्ध नहीं होगी, फलतः हेतु अनैकान्तिक होगा।⁸³

अतः चित्राकार ज्ञान का निषेध क्यों कर होगा? विरोधी का प्रश्न है कि आप बताएं कि बाह्यार्थ का भी निषेध क्यों कर होगा? (ज्ञानश्री का उत्तर है—) क्योंकि तत्त्वतः (बाह्य के) प्रकाश का अभाव है। यह सुप्रसिद्ध है कि अभाव अनुपलब्धि से अन्य नहीं है। पुनश्च, निरंशता एक ही लक्षण वाली है ऐसा नहीं है। ऐसी स्थिति में बाह्यार्थ में व्यापकानुपलम्भ का कौन सा शक्तिप्रतिबंध होगा? पुनश्च, वह एकतालक्षण क्या है जिस के कारण उक्त उपालम्भ संभव नहीं हो पाता? यदि उत्तर दें कि वह लक्षण विवेच्याशक्यदर्शनत्व है, तो वह लक्षण बाह्य का तो होता नहीं। बाह्य में इस विवेच्याशक्यदर्शनत्व का अभाव होने के कारण (यह सिद्ध हुआ कि) उन का संहति रूप अनेक भी नहीं है।

पूर्वपक्ष— (अशक्यविवेचनत्व भले ही एक हो, किन्तु) शक्यविवेचनता अनेक होगी।

उत्तरपक्ष— (ज्ञानश्रीमित्र का कहना है कि) यदि अशक्यविवेचनता का कोई अन्तिम पड़ाव होता, तो उस की अपेक्षा से (उन में) शक्यविवेचनता की कोई

संभावना होती। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि परमाणुओं का भी कोई पड़ाव (=अवस्थान) नहीं है। ज्ञान की स्वसंतानभावी चित्रता (=चित्राकार बुद्धि) में अशक्यविवेचनता की ही स्थिति है (तथा) अन्य संतान के साथ अशक्यविवेचनता नहीं है, ऐसा (आचार्य) प्रदर्शित करते हैं।⁸⁴ इस से यह स्पष्टतः कथित हो जाता है कि व्याप्यव्यापकभाव की सिद्धि बुद्धि में होती है। व्यापकानुपलंभव्यापार ज्ञान में नहीं, अन्यत्र होता है।

अतएव आचार्य वसुबन्धु ने भी व्यापकानुपलंभ की जो उद्भावना की है वह बाह्यार्थ की दृष्टि से है, ज्ञानाधिकारतया नहीं। यदि विरोधी प्रतिवाद में कहें कि जिस तर्क से बाह्य विषय में यह व्यवस्था की गयी है उसी तर्क से ज्ञान के क्षेत्र में उस के लिए अवकाश दुर्वार है, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि आचार्य वसुबन्धु ने 'विज्ञानमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलंभतः'⁸⁵ इत्यादि के द्वारा उपर्युक्त बात का निषेध कर दिया है। अतः ग्राह्यगाहकद्वय की असत्ता के द्वारा तथा त्रैधातुक चित्त, चैत तथा अभूतपरिकल्प की सत्ता के द्वारा समारोप के अपवाद के प्रतिषेध की निर्वृति की गयी है, अन्य किसी सत्त्व या असत्त्व को नहीं कहा गया है।

पूर्वपक्ष— चूँकि उस प्रकार से अंदाजा लगाना संभव है, अतः (आप विज्ञानवादियों का) उपर्युक्त (विषय) में कोई कथन नहीं है।

उत्तरपक्ष— तब तो (इस से यह प्रतिफलित हुआ कि ऊपर में) ग्राह्य के बाधक को साक्षात् ही कहा गया है। उस का अभाव ही (वहाँ) अभिधेय नहीं है। इस कारण 'ग्राह्य के ही बाधक को कहा गया है' ऐसा यदि इष्ट है, तो अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। उपर्युक्त स्थितिवश यह फलित हुआ कि पृथक्करण के द्वारा अशक्यदर्शन और तदितर ही अर्थात् एक और अनेक ही एक-दूसरे का परिहार कर स्थित होने के लक्षण वाला होने से व्यापक (कहे जाते) हैं, क्योंकि उन के स्वभाव में वह दृष्ट है, (अतः बाह्यपदार्थ में) निरंशराशित्व नहीं है। अंश की चिन्ता तो पर (=विपक्षी) के अनुरोध से की जाती है। अथवा, यह समझना चाहिए कि उस के द्वारा, संतानान्तर की भाँति, अशक्यविवेचनत्व के अभाव को ही व्यंजित किया गया है।

आशंका— स्वसंवेदन रूप संवित् 'एक' तत्त्व है ऐसा मानने वालों का आश्रय अनेक व्यवस्थाएँ हैं (ऐसा हम पाते हैं)। संतानान्तर का भाव यदि फलांग की तरह सिद्ध न हो, तो क्या संतानान्तर की सिद्धि संवृति के द्वारा 'यथा तथा' रूप में होती है ?

समाधान— संतानान्तर की सिद्धि 'यथा तथा' रूप में होती है तो हो, इस सम्बन्ध में किसी निर्बन्ध से क्या लाभ? इसी प्रकार से भी बुद्धि की अनेकता ही न हो, क्योंकि एक एकत्व के द्वारा भी व्यापकानुपलंभ की असिद्धि सिद्ध हो जाती है। कल्पित अनेकों में पृथक्करण के द्वारा 'एक' शब्द यावत् व्यवहार के लिए प्रयुक्त होगा। इस कारण जिस प्रकार बाह्य में देश, काल और आकारकृत भेद होता है वैसा भेद ज्ञान में नहीं होता।

पूर्वपक्ष— ऐसा हो, किन्तु उस के लिए क्या प्रमाण है? (और चित्र के) एकत्व के लिए भी क्या प्रमाण है? यदि कहा जाय कि इस विषय में प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, तो वैसा संभव नहीं, क्योंकि विकल्प के द्वारा वह अनुगम्यमान नहीं होता।

उत्तरपक्ष— इस में विकल्प का ही अपराध है, प्रत्यक्ष का नहीं, क्योंकि चित्रप्रतिभास अन्योन्यसंविदन्तर्गतत्व (=एक ज्ञान का अन्य ज्ञान के अन्तर्गत होने की स्थिति) के द्वारा ही होता है। जैसे कि 'मेरे द्वारा नील-पीतादि देखा गया' यहाँ एक कर्त्ता का उल्लेख है। 'यह मेरा चित्रप्रतिभास है' यहाँ एक सम्बन्धी का उल्लेख है। यह एक का प्रत्यक्ष विकल्प ही अभेदपूर्वक (यह) 'पटाकार ज्ञान है' इस अनुभवाकार वाला होता है। इस प्रकार बुद्धि में 'एकत्व' ही है और बुद्धि के विकल्प अथवा त्रिभुवन विकल्प भी 'एक' ही हैं। चित्रप्रतिभास एक बुद्धि में होता है, जैसे कि एक ही शिला में पुत्र और उस के शरीर का अथवा शरीर में हाथ-पैर का प्रतिभास होता है। चित्रप्रतिभास एक ही अवसाय है, बाह्याभिमानतया ही (नील-पीतादि के) समुच्चय मात्र को (चित्र) कहा जाता है। समुच्चय के अभाव में इस (ज्ञानात्मक) एकत्व का ही उल्लेख किया जाता है। इसी प्रकार वृक्ष, पर्वत जैसे स्थलों पर भी मात्र ज्ञान के संदर्भ में एकत्व का व्यवहार होता है।

इस कारण प्रत्यक्ष का कोई अपराध नहीं है और विकल्प का भाव (=सत्त्व) ही नहीं है। अतः सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष अभेदग्राही है।^{१६} तब तो भेद के विषय में भी प्रत्यक्ष ही शरण है? 'पर्वतबुद्धि एक है' इत्यादि (उदाहरणों) में विपरीत (बुद्धि) का उदय होने के कारण विकल्प के द्वारा उस का अनुगम नहीं किया जाता, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा अनेकों बार देखा जाता है (कि विकल्प विपरीत ज्ञान का भी अनुगम करता है)। तो क्या ऐसे समय में 'एक' और 'अनेक' इन दोनों की स्थिति मानी जाय? अतः व्यापकानुपलंभ में विप्लव (स्पष्ट) है। (इस प्रकार) 'शून्यतासाधन के आरंभ में उभय का निषेध करके अब उभय का साधन करते हुए आप स्याद्वाद को उद्दीप्त करने में

प्रवृत्त हैं' यह दोष आप पर आ पड़ेगा। विरोधी कह सकता है कि एक—एक का साधन अन्य—अन्य का बाधन स्वरूप है, न कि ऐसा करके हम उस की स्थिति का आग्रह करते हैं, क्योंकि क्रम (=प्रसंग) आने पर उस का भी बाध हो जाता है। (ज्ञानश्री कहते हैं कि) यदि ऐसा है, तो जब (चित्रविज्ञान का) ऐक्य प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध है, तब दूसरे (=अनेक) की बाधा ही (फलित) होगी। अतः ऐसी स्थिति में जो बाधित है वह अन्य की बाधा का आधार कैसे हो सकता है? जो पहले से बाधित है उस का किसी प्रकार प्रत्युज्जीवन हो जाय ऐसा संभव नहीं। यदि वैसा न माना जाय (=तथा अभावे, अर्थात् यदि मान जाय कि पूर्वबाधित का प्रत्युज्जीवन होता है), तो प्रत्युज्जीवित के द्वारा भी जो बाधित है उस के पुनः प्रत्युज्जीवन की आशंसा में आप के किस मनोरथ की सिद्धि होगी?⁷⁷ ('तथा भावे' पाठ मानने पर अर्थ होगा कि) यदि वैसा है (= यदि पूर्वबाधित का प्रत्युज्जीवन नहीं होता), तो इस के द्वारा भी बाध्यमान के पुनः प्रत्युज्जीवन की आशंसा में आप के किस मनोरथ की सिद्धि होगी? पुनश्च, चूँकि (अपने से) इतर के द्वारा बाधन और जीवन की परंपरा समाप्त नहीं हो सकती, फलतः एक से एक के सनाथित होने के कारण धर्मी का व्यापकानुपलंभ कभी भी संभव नहीं होगा।⁷⁸

तात्पर्य यह है कि जब यह कहा जाता है कि बुद्धि का रूप 'एक' नहीं है, तो ऐसा नील—पीतादि के परस्पर असम्बद्ध होकर प्रतिभासित होने की दृष्टि से कहा जाता है। जब यह कहा जाता है कि वह 'अनेक' भी नहीं है, तो ऐसा परंपरागत संवेदन के संदर्भ में कहा जाता है। अतः वहाँ पर जिस समय एकत्व का निषेध करने के लिए प्रतिभासभेद को दोषी माना जाता है, तो उस समय यदि वह (=प्रतिभासभेद) स्वसंवेदनसिद्ध है, तो उस का किस के द्वारा निषेध (=निवारण) होगा? उस (=स्वसंवेदन) के दृढ़ न होने पर एकत्व की भी बाधा कहाँ से होगी? इस प्रकार 'अनेक भी नहीं है' यह बात यहाँ पर भी कहनी चाहिए। पुनश्च, यदि प्रतियोगी के होने की अपेक्षा के बिना ही विरोधी का परिभव साधनान्तर से हो जाता है, तो कोई दोष नहीं है। जो स्वयमेव प्रमाणसिद्ध और प्रमाणसम्मत है उस का प्रतिवहन (=प्रमाण से असिद्ध होना, निवारण) होता है ऐसा मानना असम्बद्ध स्थिति है। पुनश्च, एकानेकत्व का विपर्यास (=अभाव) प्रमाणान्तर नहीं है। यह मान भी लें कि ऐसा संभव है, तो भी जिस का एकत्व स्वसंवेदन से सिद्ध है उस का भी उन्मीलन या प्रतिषेध (अन्य से) नहीं हो सकता। अवस्तु होने के कारण 'एक'

भी नहीं है, क्योंकि (एक और अनेक) परस्परसापेक्ष हैं।⁸⁹ परस्पर विरुद्ध दो चीजें एक स्थान पर (साथ-साथ) नहीं हो सकती, (अतः) दोनों (=एकत्व और अनेकत्व दोनों) का निषेध नहीं हो सकता। अतः यहाँ पर 'असद्' वही माना जायेगा जिस का 'संवेदन नहीं है' इस रूप में प्रतिपादन करना शक्य है। (एकत्व और अनेकत्व) 'दोनों का संवेदन नहीं होता' ऐसा सर्वथासंवेदनाभाव की ही स्थिति में कहा जा सकता है और वह तो असिद्ध है।

(ज) चित्राद्वैत मत में स्याद्वाद और वेदान्त के एकत्ववाद की स्थिति के होने का परिहार⁹⁰

आशंका— (उपर्युक्त विश्लेषण) स्वसंवेदनवादियों के अनभीष्ट का आपादन मात्र है, अतः यह दोष उन का ही है, हमारा नहीं, क्योंकि स्वसंवेदन हमें अभीष्ट नहीं है।

“आप महान लोगों की ‘अनिष्टि’ नामक इस महान समाधान की कृतार्थता तभी होती यदि सभी अनभीष्टों के सम्बन्ध में ऐसा कहना संभव होता।”⁹¹

हमारा कहना है कि व्यापकाभ्युपगमवादियों (=वेदान्त) के स्वसंवेदन नामक अभ्युपगम (=मान्यता, सिद्धान्त) का (आप विज्ञानवादियों ने) हठात् आयात कर लिया है। अतः जिस प्रकार अभेद के प्रसंग में प्रत्यक्ष प्रमाण की सिद्धि को (आप) मानते हैं उसी प्रकार उस को यदि भेद के विषय में भी मानें, तो स्याद्वाद का परिहार आप के लिए शक्य नहीं। यदि प्रमाण को ही स्वीकार नहीं करेंगे, तो जिस का जो भी अभीष्ट है वह सिद्ध होगा, तो यह कौन सा समाधान (=परिहार) हुआ? ऐसी स्थिति में—

“भेद और अभेद दोनों की सिद्धि होने से स्याद्वाद की स्थिति प्राप्त होगी और यदि ‘एकत्व’ की सिद्धि मानेंगे, तो ‘वेदान्तवाद’ की स्थिति उत्पन्न होगी। इस प्रकार तत्त्वविप्लव की स्थिति आप के लिए दुस्त्यज होगी।”

समाधान— यद्यपि मेरे (=हर एक के) चित्तचक्र का स्वरूप एक है (तथापि) वह आकाश की भाँति विभु नहीं है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि (आपलोग = विज्ञानवादी) तथागत (बुद्ध) की वंदना वैसा ही (=विभुचित्तवत्) करते हैं, तो (हमारा उत्तर है कि) चित्त की समाधि की अतिशयता की स्थिति (को तथागत कहा जाता) है, (तथागत या मन की समाधि की अतिशयता की स्थिति को) तत्त्व नहीं कहा जाता (= तथागतता तत्त्व नहीं)।

(हमारे मत में) विज्ञान की उस प्रकार की (=आकाशवत्) व्यापकता को तत्त्व नहीं ही कहा जाता, क्योंकि अन्य काल में अन्य का अभाव रहता है। भगवान् का विभुत्व तो सिद्धिविशेष है। संवेदन में पूर्वापर की स्थिति नहीं होती⁹², अतः नित्यता (के लिए संभावना) कहाँ से होगी। इस से 'ह्रस्वान्त' (=नित्यतावाद?) का परिहार हो जाता है। (पुनश्च,) 'न तो संवेदन ही कभी अपने को विराम देता हुआ अनुभव करता है' इस के द्वारा उच्छेदवाद का तथा प्रबन्ध (=विज्ञानसंतान या चित्तसंतति) द्वारा शाश्वतवाद और उच्छेदवाद इन दोनों मतों का, अवान्तर व्यवस्था की अपेक्षा से, परिहार करना हमें अभीष्ट है। 'भाष्यकार प्रज्ञाकर ने अतीतादि के द्वारा भी अभेद की व्यवस्था की है' ऐसा मानना लोक की बहुत मोटी भ्रान्ति है, क्योंकि जो प्रकाशमान है उसी की ही अतीतादि भावना का निषेध होता है। इस कारण (हमारा) एकत्व आकाशवत् वैभव (=विभुत्व) दोष वाला नहीं और न तो इस में नित्यता की प्रतीति है, तो हमारे सिद्धान्त में वेदान्त की आशंका कैसे की जा सकती है?

'यह सर्वदेशव्यापी है' 'यह उस से अन्य प्रकार का है' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह कैसे? यदि यह मान भी लें कि ऐसा ज्ञान होता है, तो काल की भाँति देश की भी दीर्घता की प्रतीति नहीं होगी। फलतः, उस की नित्यता और विभुता कदापि सिद्ध नहीं होगी। अतः उभयसिद्धिवाद निर्लज्ज का ही मत है। जैनमत वाले कह सकते हैं कि हम (चित्ततत्त्व या जीवतत्त्व के साथ) जड़ को भी मानते हैं, (अतः चित्ततत्त्व और जड़तत्त्व दोनों को मानने के कारण उभयवादी हैं साथ ही अनेकान्तवादी भी)। (इस पर ज्ञानश्री की टिप्पणी है कि) ऐसा करके पदार्थों के भेदाभेद और उन के बाह्यत्व—आन्तरत्व रूप कूड़े को एकान्ततः न मानने के कारण जैनमत किसी प्रकार उभयवाद के दोषों का परिहार कर ले, तथापि उन के द्वारा मात्र यह मान्य होने से कि एकानेकत्व प्रत्यक्षसिद्ध बुद्धिरूप है, हम पर स्याद्ववाद का उपनिपातन (=अचानक आ पड़ना) संभव नहीं है।⁹³

पूर्वपक्ष— (भले ही स्याद्ववाद का उपनिपातन आप पर न हो, तथापि स्याद्ववाद के साथ) आप के मत की समानता पूरी तरह से परिहारणीय नहीं है, साथ ही ज्ञान के संदर्भ में दोनों में परस्पर जो विरोध है वह भी समाप्तप्राय है, क्योंकि (जैन मत के द्वारा भी) प्रतिभास के कारण ही बुद्धिरूपता को स्वीकार किया जाता है। अतएव, 'जो ज्ञान जैसा प्रतिभासित होता है वह

वैसा ही अनुभूत होता है। क्योंकि ज्ञान द्विआत्मक प्रतिभासित होता है, अतः उस की सदा द्व्यात्मक स्थिति होती है।" ज्ञान के ग्रहण की दृष्टि से हम ने यह कहा है। (पुनश्च), बाह्य पदार्थ का कहीं पर भी द्विआत्मक एकत्व (वाले) के रूप में ग्रहण नहीं होता, क्योंकि वैसा मानने पर भ्रमात्मकता की आपत्ति होगी; जैसे कि चन्द्रद्वय के भ्रम से ज्ञान होने पर प्रमाणान्तर के अवतरण से एक चन्द्र का ज्ञान होने पर पहले का चन्द्रद्वयज्ञान भ्रम सिद्ध हो जाता है। अतः, प्रश्न है कि चित्राकार की एकता कैसे?

उत्तरपक्ष— "प्रस्तुत प्रसंग में आप जिस प्रकार का विमर्श कर रहे हैं उस से आप (उभयवाद रूप) आह्वीकवाद से छुटकारा नहीं पा सकते। कारण यह है कि हम विज्ञानवादियों का (स्याद्वाद को, उभयवाद मानने के कारण, निर्लज्जों का सिद्धान्त सिद्ध करने का) जो अनुष्ठेय कार्य है उस को आप (=माध्यमिकों) ने ही कर दिया। (वस्तुतः) एकत्व और अनेकत्व इन दोनों में जब एक की ही सिद्धि अभीष्ट होती है, तो (वहाँ) एक की सिद्धि दुर्बल रूप में रहती है, किन्तु यदि दोनों (=एकत्व और अनेकत्व दोनों) की सिद्धि हो जाती है, तो क्या कहना (= वहाँ उभयवाद रूप आह्वीकवाद स्पष्ट है)।"

(झ) एकत्व का प्रतिपादन और अनेकत्व का निराकरण

चित्र की एकता पर जो आक्षेप है उस के प्रति भी हमारा उत्तर है— "एकत्व और अनेकत्व इन दोनों के सिद्ध होने पर एकत्व भी सिद्ध ही है। चूँकि ऐसा है, अतः चित्राकार होने पर भी चित्त में (वह) 'एकरूप' में होता है।"

("इति नामैकभावः स्याच्चित्राकारेऽपि चेतसि" पंक्ति के शब्दों को इस प्रसंग में सान्वय अर्थ करते हुए ज्ञानश्री लिखते हैं—) 'चित्राकारे' अर्थात् एक और अनेक रूप में; 'इति अपि' अर्थात् 'यह भी' (अर्थात् 'चित्राकारे इति अपि' वाक्यखण्ड का यह भी अर्थ है कि ज्ञान एक रूप में रहे या अनेक रूप में)। 'चेतसि नाम स्यात् (एकभावः)' का अर्थ है कि 'जड़ में 'एकभाव भी' नहीं होता, 'एकभाव ही' तो निश्चय ही नहीं होता।⁸⁴ 'चतुरस्र नील नील नहीं है' ऐसा कहना युक्त नहीं।

अथवा

(नील—पीतादि विभिन्न वर्णों में चूँकि परस्पर में) विरोध है, अतः चित्र एक नहीं है और (प्रत्यक्ष से एक ही चित्र का) दर्शन होने के कारण विरोध भी नहीं है। चित्र में चित्राकार विज्ञान का यही एकभाव है।⁸⁵

पूर्वपक्ष— (चूँकि चित्र में अनेक का दर्शन होता है) अतः अनेकव्यवहार भी होना चाहिए।

उत्तरपक्ष— यदि प्रयोजन हो, तो उसे कौन रोकता है? जैसे कि भगवान् को एक कहा जाता है, तथापि उन में 'चार वैशारद्य'⁹⁶ और 'द्वात्रिंश लक्षणों'⁹⁷ की भी स्थिति देखी ही जाती है। किन्तु इस से हमें कोई क्षति नहीं होती। आप विरोधी इस प्रसंग को उठाकर अपने ही बध के लिए कृत्या को जाग्रत कर रहे हैं।

पूर्वपक्ष— इस प्रकार से (=उपर्युक्त प्रकार से) विरोधी के हेतु का दूषण भले ही हो जाय, किन्तु आप के स्वाभिमत चित्राद्वैत की सिद्धि कैसे हो पाती है, क्योंकि नील और पीत में प्रतिभास की असंकरता के कारण⁹⁷ प्रत्यक्ष द्वारा एकत्व का निराकरण कर दिया जाता है। आप द्वारा की गयी अशक्यविवेचनत्व की बात भी समान समग्रीजन्यता के द्वारा अव्यभिचार का निमित्त होते हुए भेद का हेतु बनती है; (साथ ही) ज्ञान रूप होने से चित्र समुदाय के रूप में अथवा एकदेशरूप में दूसरे मनुष्य का गोचर नहीं होता, तो फिर एकत्व कैसा? "यदि कहा जाय कि विवेक (=पृथक्करण) की अशक्तता के कारण यह औपचारिक एकत्व है, तो इस स्थिति में व्यापकानुपलंभ की असिद्धि सत्य कैसे होगी?" पुनश्च, 'आपने जो यह कहा है कि 'प्रतिभास एकत्व का नान्तरीयक होता है' वह भी अयुक्त है। चूँकि प्रतिभास देशव्याप्ति द्वारा होता है और यह निर्भास एक का नहीं होता, फलतः आप के (चित्र-) आभास में देशभेद की नान्तरीयता क्यों नहीं होगी?" "जिस प्रकार आभास में अभेद की नान्तरीयता देखी जाती है उसी प्रकार नील-पीतादि का भी (अपना) तन्त्र (=व्यवस्था नियम) है और यही उन के मध्य का भेद है।" "इस कारण जिस प्रकार क्षार और दधि के एकत्व का अनुशासन (=अनुशंशा, उपदेश) व्याडि⁹⁸ महाशय के लिए लज्जाकर है उसी प्रकार (एकत्वानेकत्व और भेदाभेदादि को एक साथ मिलाने का) जो गुड़गोबर करने जैसा आप का कृत्य है वह क्यों लज्जास्पद नहीं।"

उत्तर— "इतने से"⁹⁹ को यदि भेद कहा जाता है, तो इस से (हमें) कौन सी क्षति होगी? बाद को (आगे, इसी अध्याय में) हम ने इस बात को 'अयोगव्यवच्छेद'¹⁰⁰ के द्वारा बतलाया है। "उसी प्रकार यह भी दर्शाया है कि 'चित्राद्वैत' हमारा मुख्य अभिप्रेत है (और चित्रैकत्व गौड़ अभिप्राय), अन्यथा चित्रता एक ही रह जायगी, जो कि उपपन्न स्थिति नहीं है।

पुनश्च, चित्रता में (नील-पीतादि में) परस्पर विरोध होने से रूपसंकरता की स्थिति से डरने वालों के लिए निर्भास के कारण भेद का त्याग कर एकत्व को अवश्य कहना चाहिए। चित्रनिर्भास में (नील-पीतादि की) भिन्नता है और हमें चित्राकारता के अभेद की प्राप्ति होती है। (ऐसी स्थिति है, तथापि) अनेकत्व में हमें (चित्र का) निर्भास नहीं होता, (अपितु, नील, पीत आदि का पृथक्-पृथक् निर्भास होता है और साथ ही एकचित्त में चित्र एकरूप में ही अनुभूत होता है) अतः एकत्व ही सत् है। अनेक जड़ों के प्रसंग में ही देशव्याप्ति उपपन्न मानी जाती है। स्वसंवेदन के प्रसंग में, जिस में एक-एक का प्रतिभासन होता है, देशव्याप्ति कैसे संभव हो सकेगी? नील, पीत आदि का जैसा अपना तन्त्र है वैसा रहे। उन का अपना-अपना तन्त्र ही भेद नहीं है। एकत्व को स्वीकार कर लेने पर अपने हेतुओं से तथावत् ही उत्पत्ति होगी।¹⁰¹ जिस प्रकार से एकता को स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार से भेद स्वीकृत नहीं होता। चूँकि द्वितीय (=भेद) का चित्त में होने वाले चित्राकार में प्रतिभास नहीं होता, अतः अभेद का ही आश्रय लिया जाता है। परस्पर विरोधी दो पक्षों में द्वितीय (प्रथम का) अवलम्बन नहीं होता।¹⁰² (अतः) विरोध पक्ष को बिना साधन बनाये भी चित्राद्वैत की सिद्धि हो जाती है। अशक्यविवेचनत्व (=भेदकरण या पृथक्करण की अशक्तता) ज्ञानों की अद्वैतता का साधन नहीं है। इस एक संवित्ति की सिद्धि होने पर 'अस्मिंस्तद्' को ही एकत्व कहा जाता है।

वहाँ पर (= प्र.वा. 2.221 की द्वितीय पंक्ति में) "इति नामैकभावः स्यात्" का अर्थ है कि 'अशक्यविवेचनत्व ही एकत्व है।'

"इस प्रकार (चित्रावभास में) उपर्युक्त स्वरूप वाला एकत्व (=एकभाव) (धर्मकीर्ति को अभिप्रेत) है। अन्य तरह की परिस्थिति में ज्ञान भी अन्य तरह के होते हैं। यह स्थिति वस्तुबल से आयी हुई है, अतः उस में अरुचि का कोई उपयोग नहीं।"

(ज) नील-पीतादि में अभेद के द्वारा भेदप्रतिभास का निरास

"बाह्य (पदार्थ) के (अस्तित्व के स्वीकृत) होने पर ग्राह्य की भाँति बुद्धि भी उसी प्रकार श्वेत-श्याम रूप में भिन्न (=पृथक्) होगी। अतः बाह्य की इच्छा करने वाला ऐक्यवादी बाह्यविप्लव के कारण निग्राह्य है।"¹⁰³

इस के (=अभेद के) आधार पर प्रत्यक्ष पर लगाये गये आरोपों का प्रत्युत्तर दे दिया गया।¹⁰⁴

और भी : “यदि प्रत्यक्ष ही नील को श्वेत से (=दुःख को सुख से या उष्ण को शीत से) भिन्न करता है, तो बतायें कि वह किसे भेदेगा? भिद्यमान को भेदेगा या अभिद को ही। जो भिन्न है उस में तदन्य का लेश मात्र भी नहीं होता, अतः प्रत्यक्ष द्वारा उसे किस से भिन्न किया जाएगा? मन (=विज्ञान) भेदनीय से भिन्न, अर्थात् विभक्त न किये जा सकने वाला, होता है, अतः वह किसे भेदेगा?

‘विभक्त होती हुई ही बुद्धि बाह्य भी अर्थों को भिन्न करती है (= एक को दूसरे से पृथक् करती है)। (किन्तु, द्रष्टव्य है कि) यहाँ पर (= साकार विज्ञानवाद में) ज्ञानस्वरूप में स्वसंवेदन से अन्य किसी दूसरे प्रमाण के लिए अवकाश नहीं है। ‘वह स्वसंवेदन एक भी है और वह विभाग भी करता है’ ऐसा कहना असिद्ध है। निराकार पक्ष में यह संभव है कि भिद्यमान हुए बिना भी बुद्धि अर्थक्रियादिभेद के द्वारा दृढीकृत भिन्नस्वरूपग्रहण के अभिमान के कारण बाह्य अर्थों को (एक—दूसरे से) भिन्न कर दे। (किन्तु) संवेदन (विज्ञान का) धर्म ही है, वह उस का अपना स्वभाव है, अतः वह (=संवेदन) नील—पीत रूप में विभक्त नहीं होता है। (अतः) यह कहना महान साहस (मात्र) है कि (ऐसा ज्ञान) ‘एक को दूसरे से’ भिन्न करता है। यदि कहा जाय कि ज्ञान प्रत्यात्मरूप में भिद्यमान को पृथक् करता है, तो ऐसे में केवल, अन्य—अन्य (की विश्रृंखल स्थिति होने से उन) में वार्ता का (=परस्पर संवाद का) अभाव होने से ‘चित्रप्रतिभास’ ही असंभव हो जायगा। अतः उस समय भेदस्थिति किस से (= किस के साथ) होगी? अथवा जब अवधि¹⁰⁵ ही प्रतीयमान नहीं है तो किस की अपेक्षा से भेद होगा?

पूर्वपक्ष— यहाँ पर (=चित्रप्रतिभास में) अवधिप्रतिभास की कोई उपयोगिता नहीं, ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि जिस कारण से उस की (=अवधि की) प्रतीति नहीं होती उस कारण से ही उस की उस से भेदस्थिति है। अन्योपलम्भ की स्थिति में भी पदार्थ में पररूपतया भेद नहीं किया जाता, अपितु तत्स्वरूप से जो प्रतीति होती है उसे ही अन्यतः भेदप्रतीति कहा जाता है और वह प्रतीति (=भेदप्रतीति) अन्य के प्रतीत न होने पर भी अक्षत ही रहती है, फलतः भेदप्रतीति को क्षति नहीं होती।

उत्तरपक्ष— यदि उस समय अप्रतीयमान के भी सत्त्व पक्ष की अपेक्षा से आप ऐसा कह रहे हैं, तो आप का यह पक्ष बाह्यवाद में ही युक्त है, विज्ञप्तिमात्रतानय में नहीं। कहा भी जाता है— ‘जो इन्द्रियातीत होते हैं उन

की सत्ता की संस्थिति स्ववेदनमात्र में होती है।' (ज्ञानश्री कहते हैं कि) यह मेरे लिए विस्मय की बात है कि इस प्रसंग में विरोधी द्वारा जो कहा जा रहा है वह रुचिकर है।'

इस कारण मात्र अप्रकाश रूप असत्त्व के चलते ही उस की अपेक्षा से भेदस्थिति नहीं होती। (कारण यह है कि) असत् की अपेक्षा ही नहीं हो सकती; शशविषाण की अपेक्षा से किसी से भेदस्थिति¹⁰⁶ नहीं होती, हाँ, ऐक्य का निषेध मात्र हो सकता है और हमें यह अभीष्ट ही है। यह प्रश्न किया जा सकता है— 'यदि जो उस से (=असत् से) व्यावृत्त नहीं है क्या वह ही 'घट' होता है? (ज्ञानश्री का उत्तर है—) इसी लिए हम 'ऐक्यनिषेध मात्र' की बात कर रहे हैं।'

पूर्वपक्ष— असत् से व्यावृत्त को सत् कहा जाता है और जो असत् से व्यावृत्त है वह बन्ध्यासुत से भी (व्यावृत्त) है, (तथापि) वृक्ष से जो व्यावृत्त है वह पाकड़ वृक्ष से (व्यावृत्त) नहीं है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, तो ऐसी स्थिति में खरशृंग से घट व्यावृत्त क्यों/कैसे नहीं है?

उत्तरपक्ष— यदि ऐसा है, तो आकाशकुसुम का भी घटाटि से भेद सुतरां दुर्निवार होगा। जिस का जिस से व्यावर्तन नहीं होता वह उस से व्यावृत्त नहीं माना जाता। अतः 'विन्ध्यपर्वत से बन्ध्यासुत का न भेद है और न अभेद' ऐसा नहीं कहना चाहिए। दोनों का निषेध अभावनियत होता है, इस तथ्य के द्वारा सामान्य, पुद्गल आदि के अभाव को साधित करने के लिए प्रमाण को नहीं कहा गया है। (अतः) 'यह उस से भिन्न या विलग किया जाता है', जब ऐसा कहते हैं, तो चाहे वस्तुधर्मतया अथवा कल्पितधर्मतया भेद हो, वहाँ प्रथमा और पंचमी दोनों का एक ही अर्थ होता है।¹⁰⁷ यहाँ पर यही 'अर्थसतत्त्व' है। 'इस से यह भिन्न या विलग किया जाता है' यदि इस कथन से वक्ता को 'एकस्वभावता का निषेध मात्र' अभिमत हो, तो उस स्थिति में यदि घट और अश्वशृंग के मध्य परस्परव्यावृत्ति हो, तो इस में कौन सी क्षति होगी?

पुनश्च, यदि आत्मा और आत्मीय की वस्तुरुपस्थिति आप को अभिमत हो, तो ऐसी स्थिति में घटपटादि की ही (वस्तुस्थिति) होगी; नर और खरशृंग दोनों की, अथवा नर और खरशृंग की नहीं, क्योंकि इन दोनों में एक की ही वस्तुता है। इस स्थिति में 'पुद्गल स्कन्ध से भिन्न नहीं है' इस से यह विवक्षित है कि इन दोनों की आत्मा और आत्मीय के रूप में स्थिति नहीं है। चूँकि इन में एक भी बन्ध्यासुत के समान नहीं है, अतः दोष नहीं है। भाव और

अभाव में अभाव के कल्पित रूप का आश्रय लेकर परस्पर परिहार के द्वारा (उन के) व्यवस्थित लक्षण को कहा जाता है, उन दोनों के वस्तुरूप को नहीं कहा जाता। इसी लिए (ऊपर में) "आत्मा और आत्मीय की वस्तुरूप में स्थिति" ऐसा कहा गया है। उपर्युक्त कारण से विज्ञान के सत्तासाधन के प्रसंग में अप्रतिभासमान होने पर भी जब तक वह वस्तुता का अतिक्रमण नहीं करता तब तक (भाव और अभाव की) परस्पर विलगता की स्थिति में अनुपलभ्यमान होने के कारण भी विज्ञानवाद में (भावाभाव के) भेदग्रहण की बात हो सकती है।¹⁰⁸ जब परिस्थिति इस से भिन्न हो, तो उस समय संशय की ही स्थिति रहेगी। प्रकाशैकस्वभावता की स्थिति में जो सत्त्वतया प्रतीयमान है वह न तो एक है और न अनेक। जो प्रतिभासी है उस का भाव होता है, उस का अभाव नहीं होता। हाँ भेदार्थ मान्य ही है। इस भेद (=भिन्नता) का अभिधान हम उद्भावनासंवृति के द्वारा या उस के समाश्रय से करते हैं। इस में अभावांश के निषेध का उल्लेख नहीं होता, क्योंकि निषेध का उल्लेख होने पर तादात्म्य का परिहार न होने के कारण अभावता कहा से/कैसे सिद्ध हो सकेगी? अतः भावाभावतया भी द्वैत की प्राप्ति नहीं होती। इस कारण हमारे विरोधी को जो अभिमत है उस के लेशमात्र की भी जब प्राप्ति नहीं हो रही है, तो 'मात्र अभाव से ही कैसे/किस के साथ भेद हो सकेगा' ऐसा जो कहा गया है वह युक्त है। अतः 'पूर्व और अपर का सहोपलम्भ न होने पर भी भेद सिद्ध हो जाता ही है' ऐसा मानना स्पष्टतः आत्मप्रताड़ना मात्र है, क्योंकि (1) पूर्वापरत्व का प्रकाश (=प्रतिभास, ज्ञान) नहीं होता है और (2) प्रकाश का पूर्वापरत्व के साथ मेल (=संगति, योग) भी नहीं है। इस लिए सत्ता का अभाव होने के कारण ही अतीतादि का वेदन नहीं होता, क्योंकि प्रकाश की ही सत्ता होती है। (इसे ही श्लोकरूप में ज्ञानश्री अभिव्यक्त करते हैं)–

"यहाँ (=विज्ञानवाद में) भ्रम, संकल्पन, कल्पनाएँ, शातासितादि (=श्वेत-श्याम/सुख, दुःखादि) तथा सभी इन्द्रियज्ञान सहोपलब्ध होने के कारण अभिन्न हैं। अतः उन का पूर्वापरत्व वेद्य नहीं है।"¹⁰⁹ यह संग्रह है।
(ट) अवधि का प्रतिभास न होने के आधार पर भेदप्रतिभास का निरास

अथवा आप भेद कैसे/कहाँ से करोगे, क्योंकि भेदावधि का प्रतिभास ही नहीं हो रहा है, अतः यह अर्थ हुआ कि यहाँ भावाभाव की चिन्ता ही नहीं करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि—

‘इस से यह भिन्न है’ यदि ऐसा स्वरूप ग्राह्यवस्तुओं का होता, तो ग्राह्यवस्तु का प्रतिभास अवधि के साथ होता। किन्तु ग्राह्यवस्तु उस रूप में भासित नहीं होती।”

प्रश्न— अन्य सम्बन्धियों का प्रतिभास न होने पर भी पितादि सम्बन्धियों की प्रतीति तो (हमें) है ही।

उत्तर— वहाँ (=ऊपर के उदाहरण में) हम काल्पनिक सम्बन्धित्व को ही जानते हैं, क्योंकि यदि हम उस की वस्तुरूपता की बात करेंगे, तो हम पर यह आक्षेप लगेगा कि हमें सभी सम्बन्धियों का बोध है। अवधि भी सम्बन्धी विशेष ही है, अतः हेतु और फल इन दोनों में से किसी एक (=अर्थात् केवल हेतु या केवल फल) की प्रतीति तदन्य (=हेतु से अन्य फल या फल से अन्य हेतु) की प्रतीति को किये बिना होती है और वह शुद्धस्वभावविषया है। इत्यादि से यह प्रतिपादित हो जाता है कि (हेतुफलभावप्रतीति) परस्परअपेक्षालक्षण वाले सम्बन्धविप्लव रूपी संकल्पशिल्पी द्वारा सृजित ही है (= अर्थात् हेतुफलभावप्रतीति वस्तुरूप नहीं है)। अतएव ‘अवधि का ज्ञान न होने पर भी अवधिमान का ज्ञान है’ ऐसी बुद्धि दुर्बुद्धि ही है। फलतः जो प्रतिभासी नहीं है उस का भेदग्राही प्रत्यक्ष कहाँ से होगा, अर्थात् नहीं होगा।¹¹⁰

प्रश्न— ‘अनील से नील भिन्न है’ ऐसी एषणा अवश्य की जानी चाहिए, किन्तु तद्ग्राही प्रत्यक्ष के द्वारा वैसा (=अनील से नील भिन्न है इस रूप में) ग्रहण नहीं किया जाता, अतः (ऐसी स्थिति में) नील गृहीत ही नहीं हुआ।

उत्तर— ऐसा हम भी कहते हैं। अनील का ग्रहण नहीं होने पर उस से जो भिद्यमान है वह भी गृहीत नहीं होता, अतः नील ही कैसे गृहीत हुआ? विरोधी कह सकता है कि जिस कारण से ही उस का ग्रहण नहीं होता उस कारण से ही उस का भेदग्रह होता है (ऐसा स्वीकार करना चाहिए), अन्यथा उपलम्भ और अनुपलम्भ दो (भिन्न बातें) हैं यह ही सिद्ध नहीं हो सकता। (ज्ञानश्री का उत्तर है कि आप का अभिमत मानने पर तो) जिस प्रकार उस का (=अनील का) ग्रहण नहीं होता है उसी प्रकार उस की अवधि (=अनील की अवधि) वाले भेद का भी उपलम्भ (=ज्ञान, अनुभव) कैसे होगा? अतः तद्ग्रह (=अनील का अग्रहण) जैसे इस की एकता का विरोधी है उसी प्रकार तदवधिक भेदग्रह का भी (विरोधी) है। यदि विरोधी कहे कि इस की

एतद्रूपा प्रतीति को ही भेदप्रतीति कहा जाता है, तो यह उचित नहीं, क्योंकि भेदप्रतीति के प्रतिकार में भी यही बात समान (रूप से कही जा सकती) है।

“अवधि की प्रतीति हुए बिना वह भेद भेद कैसे है? यदि विरोधी कहे कि (आप हमारे शब्दप्रयोग के कारण ऐसा कह रहे हैं, अतः हमारा कहना है कि) उस प्रकार का शब्द ही न हो, तो ज्ञानश्री का उत्तर है कि (उस प्रकार का शब्द न रहे, किन्तु) उस प्रकार का भासन तो होना चाहिए।”

(उपर्युक्त) दोनों का प्रतिभासन होने पर तदपेक्ष जो उन का स्वभाव है वही स्फुरित नहीं होता है’ यह बात कही जा रही है, विकल्प मात्र के प्रतिषेध को नहीं। अतः जिस प्रकार अन्य से संकीर्ण रूप के भासन को ही भेदप्रतिभास कहा जाता है उसी प्रकार अवधिनिरपेक्ष ईक्षण को ही इस का भेदप्रतिभासभ्रंश कहा जाता है, क्योंकि उस में स्वरूप मात्र का प्रतिभास होता है।” यदि ऐसा है, तो (इस का अर्थ हुआ कि) अवधि का ज्ञान न तो भेद्य (=अवधिमान) के प्रतिभास से होता है और न ही अभेद्यसंकर (=जो अवधिमान के रूप में विवेचित नहीं है उन के व्यामिश्रण) के प्रतिभास से। भेद और अभेद से इतर कोई वस्तु है नहीं, अतः वस्तु का ग्रहण कैसे होगा? अतः समीचीन आलोचना की जाय, तो (वस्तुस्थिति) ऐसी ही है।

“एक अर्थ का दूसरे अर्थ से परस्पर भेद न हो, तो ज्ञान के कारण भी भेद कैसे होगा? और अर्थ में परस्पर भेद होने पर अवधि का भी ज्ञान होगा। ऐसी स्थिति में सभी अर्थ सभी के ज्ञान के विषय होंगे।”

केवल बाह्यार्थाभिनिवेश की परवशता की स्थिति में ऐसा विचार किया जाता है। बाह्यव्यवस्था में भी उपर्युक्त दोष समान रूप से है। जिस प्रकार भेदग्रह को (अवधिनिरपेक्ष अथवा विशुद्ध ईक्षण की स्थिति में) अस्वीकार करने पर एक (=विज्ञानवाद) की स्थिति है उसी प्रकार भेदग्रह के निबंधनस्वरूप अवधि के ग्रहण का अभाव होने पर दूसरे की (=माध्यमिक और अन्य यथार्थवादियों की) स्थिति है। (अतः) वहाँ पर यदि नेत्रों को बन्द कर बाह्यग्रह के सदृश अवधि का बोध न होने पर भी जिस प्रकार एक (=बाह्यार्थवादियों) के लिए ‘भेदग्रह की व्यवस्था’ कर दी जाती है/मान ली जाती है, तद्वत् ‘आँख मूंद कर ही’—जैसे परमाणु के रूप का उल्लेख न होने पर भी—भेद का ग्रहण न होने पर भी वस्तुग्रह की व्यवस्था दूसरे के लिए क्यों (मान्य) नहीं? वस्तु परमाणु से अन्य है नहीं, अतः वहाँ पर भी (=हम में

भी) आँख मूंदकर उस का (=परमाणुओं के रूप का) उल्लेख न होने पर भी वस्तुग्रहव्यवस्था (मान्य) है। इस प्रकार भेद की प्रतीति न होने पर भी (वस्तुग्रहव्यवस्था मानने में) कोई दोष नहीं।¹¹²

तो फिर भेदग्रहण कैसे होता है? किसी भी प्रकार से नहीं। भेदग्रह मात्र एक व्यवस्था है जो पश्चात्भावी निश्चय की अपेक्षा से संभव हो सकती है। वह (=बाद को होने वाला सविकल्पक निश्चय) नील और अनील राशि को अपने अनुरूप प्रतिभास का विषय बना लेता है और साथ ही उन दोनों में ऐसा विभाग करता है मानों वे परस्पर विरोधी हों; (और ऐसा करते हुए) वह अपने इस व्यापार को भी — “यह जो देखा गया है वह ‘नील’ है, ‘अनील’ नहीं है” — प्रत्यक्ष पर प्रक्षिप्त कर देता है। (फलतः) उस की अपेक्षा से यह व्यवस्थापित किया जाता है कि प्रत्यक्ष ही अन्य की व्यावृत्ति (=अतद्व्यावृत्ति) को ग्रहण करता है : अथवा वह (=भेदग्रहण) भी स्मृति है, जैसे, ‘एकत्व के निश्चय की अपेक्षा से गृहीत न होने पर भी धारावाही अन्य ज्ञान के विषय में यह माना जाता है कि इस में गृहीत का ग्रहण हुआ है। इस के द्वारा (=उपर्युक्त विश्लेषण के द्वारा) ‘वह (=पश्चात्भावी निश्चय) परिच्छिन्न (=विभाग) करता है’ इत्यादि (कथन) में विरोध नहीं है, इस की व्याख्या कर दी जाती है। (ज्ञानश्रीमित्र यहाँ टिप्पणी करते हैं—) तथापि इस अवान्तर व्यवस्था को करने मात्र से प्रत्यक्ष अपने अभेदग्राही स्वभाव का त्याग नहीं करता। अतः प्रश्न है कि ऐसी स्थिति में क्या यह स्वीकार करना चाहिए कि उपलब्ध और अनुपलब्ध में ऐक्य है? (ज्ञानश्री का उत्तर है कि) ऐक्य नहीं है, क्योंकि वहाँ भेदग्रह का निषेध मात्र अभीष्ट है। (अतः) विकल्पक ज्ञान, युगपद् अथवा क्रमशः प्रतियोगियों की प्रतिपत्ति अथवा संकल्प होने की स्थिति में, भेद अथवा अभेद का व्यवहार कराये, किन्तु प्रत्यक्ष की अपेक्षा से जो अप्रतिभासमान है वह न एक है न अनेक। यदि यह पूछा जाय कि (चित्र के) प्रतिभासमान होने की स्थिति में क्या गति होगी, तो उत्तर है कि चित्र के प्रतिभासमान होने पर भी यदि दो ग्राहक विज्ञानों में भेद हो, तो पूर्ववत् विकल्प ही वहाँ भेदग्राही है, (प्रत्यक्ष नहीं), क्योंकि उस समय किसी अन्य विकल्प का उल्लेख नहीं रहता। इस प्रकार (प्रत्यक्ष के) अभेदवान होने की स्थिति चित्राद्वैत को सिद्ध करती है और इस से यह भी सिद्ध होता है कि चित्रावभास बुद्धिरूप ही है और प्रत्यक्ष अभेदग्राही ही है।¹¹³

(इस से यह भी कहा जा सकता है कि) चाहे बाह्य की सत्ता मानी जाय या न मानी जाय, किसी भी स्थिति में भेद प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनता, क्योंकि बुद्धि में अभेदवेदन अपने ही द्वारा (=बुद्धि द्वारा ही) होता है। अतः भेद व्यवहारपरायण ही है।

(ठ) विरुद्धधर्माध्यास का चित्रप्रतिभास में निरास

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि स्पष्ट आकार वाले नील-पीतादि जो विरुद्धधर्माध्यासों¹⁴ के रूप में सम्मुख भासमान हैं उन का अपलाप कैसे किया जा सकता है? (ज्ञानश्री का उत्तर है कि) हम उस का अपलाप नहीं कर रहे हैं इसी लिए तो उन्हें चित्र कह जाता है। चित्र शब्द से जिसे नाम दिया जाता है ऐसे नील-पीतादि में एक-एक का भेद तत्त्वतः नहीं किया जा सकता, इसी लिए उसे हम स्वसंवेदिति कहते हैं। वहाँ पर विरुद्धधर्मों का अध्यास है, इस में दो पक्ष संभव हैं— (1) दो परस्पर विरुद्धधर्मों का अध्यास, अथवा (2) दो विरुद्ध धर्मों में (चित्रबुद्धि का) होना। प्रथम पक्ष में भी दो विकल्प संभव हैं— (क) आश्रय द्वारा, (ख) स्वरूप के द्वारा—दो विरुद्ध धर्मों का अध्यास। इस में (क) विकल्प उचित नहीं। संवेदन के ही कारण अधिकरणता की असिद्धि हो जाने से आश्रय द्वारा दो परस्पर विरुद्धधर्मों का अध्यास असिद्ध है, क्योंकि स्वसंवेदन को स्वीकार कर लेने पर अन्य प्रमाणों का अवतार नहीं हो पाता। यदि कहा जाय कि स्वरूप के द्वारा हम दो परस्पर विरुद्धधर्मों का अध्यास मानेंगे, तो मात्र यह बात हमें व्यथा नहीं देती, क्योंकि अभेदवान आश्रय में प्रतिभासमान होते हुए दोनों विरोध समाप्त कर साथ-साथ रह सकते हैं, जैसे कि कृतकत्व और अनित्यत्व।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कृतकत्व और अनित्यत्व में जो भेद है वह कल्पनाकृत है, किन्तु चित्र में नील-पीतादि दो विरुद्धधर्मों में जो भेद है वह प्रतिभासकृत होता है, (फलतः दोनों में समानता नहीं है)। (ज्ञानश्री का उत्तर है कि) अभिन्न आश्रय के द्वारा ही ऐसा निदर्शन होता है। विरोधी कह सकता है कि वहाँ पर (=चित्रप्रतिभास में) प्रतिभासाभेद से ही आश्रयाभेद होता है। (ज्ञानश्री कहते हैं कि) यहाँ पर भी (=प्रतिभासभेद में भी) स्वसंवेदन रूप अभेद पाया जाता है, (अतः चित्र अद्वैतरूप है)। विरोधी का प्रश्न है कि आप बतायें कि प्रतिभासभेद के कारण भेद ही होता है अथवा नहीं? (ज्ञानश्री कहते हैं कि) हम प्रतिभासभेद के कारण भेद होने को नहीं

मानते, क्योंकि बाह्यविषयक प्रतिभास ही, आकार इस अन्य नाम से, प्रमाण है, अतः उस का (=बाह्यविषय का) अभाव होने के कारण आभास ही विज्ञान का विषय है। इस में स्वसंवेदन प्रमाण है, अतः स्वसंवेदन के द्वारा जब उस का (=नील, पीत आदि के प्रतिभास का) एकीकरण किया जा रहा है, तो किसी अन्य के द्वारा उस में विभेद कैसे किया जा सकता है?

अतः भेदाभाव के कारण (नील और पीतादि, चित्रप्रतिभास में) दो विरोधियों के धर्मों के रूप में रहते हैं, यह बात पूरी तरह असिद्ध हो जाने से यह भी सिद्ध है कि नील-पीत में विरोध नहीं है। अतः भेद का कोई भी साधन नहीं है, जबकि अभेद का साधन स्वसंवेदन ही है और वह भेद को भी बाधित करता है। इस से यह भी स्थापित हो गया कि स्वरसवाही (अभ्यास ही) बाह्यव्यवहार को उपस्थापित करता है। इसी कारण धर्मकीर्ति लिखते हैं—

III

(क) प्रमाणवार्तिक के अंश पर प्रज्ञाकर के भाष्य का विश्लेषण

“नीलादिश्चित्रविज्ञाने ज्ञानोपाधिरनन्यभाक्। अशवयदर्शनस्तं हि पतत्यर्थे विवेचयन्” ॥ प्र०वा० 2.220

श्लोक में आया ‘अनन्यभाक्’ शब्द ‘अनन्यस्वभावभाक्’ के अर्थ में है। चित्र में पीतादि स्वभाव का विभाग न करने पर आप नील को देख नहीं पायेंगे। किन्तु चित्रविज्ञान में हम नील-पीतादि सभी को देख लेते हैं, क्योंकि तद्धर्मतापन्न (=पीतादिधर्मतापन्न) का प्रतिभास पीतादि एक-एक में नियत है।¹¹⁵ इस का अर्थ हुआ कि (नील-पीतादि के द्वारा) परस्पर स्वभाव का परित्याग करने पर ही चित्रप्रतिभास हो सकता है। किन्तु (चित्रज्ञान में यदि) इस से (=नील से) (पीत को) विलग करेंगे, तो निश्चय ही प्रतिभास (=चित्रप्रतिभास) की तद्धर्मता की अनापन्नता को स्वीकार करना होगा और ऐसी स्थिति में बहिरर्थ में ही पतन होगा। इस प्रकार नीलादि ज्ञान के आत्मभूत (=ज्ञानोपाधि) हैं। अतः (धर्मकीर्ति प्र०वा० 2.221 में) लिखते हैं— “यद् यथा भासते ज्ञानम्.....”। तात्पर्य यह है कि (जो ज्ञान जहाँ पर) नीलपीतादितया भासित होता है वह वहाँ पर ही पीतादितया अनुभव में आता है, क्योंकि उस का स्वसंवेदन होता है और स्वसंवेदन परस्पर अभेदलक्षण वाला होता है। शेष अंश सुगम है। अतः भाष्यकार प्रज्ञाकर ने यह उचित टिप्पणी की है कि “चित्रविज्ञान भेदरूप नहीं, क्योंकि वह अनेकरूप नहीं, अतः भेद के द्वारा चित्रप्रतिभास का व्यवस्थापन असंभव है।”¹¹⁶

‘अचित्राद’ के द्वारा प्रज्ञाकर यह बताना चाहते हैं कि विज्ञान नानारूप वाला नहीं होता, (अपितु) वह स्वसंवेदन रूप वाला होता है। अतः भेद के द्वारा चित्रप्रतिभास का व्यवस्थापन नहीं हो सकता, (तथापि) उस का पर्युदास में पर्यवसित होने वाला अभेदेन व्यवस्थापन हो सकता है और यह स्वयमेव प्रसाधित है। पहले प्रज्ञाकर ने यह कहा कि चित्रप्रतिभास अशक्यविवेचन है और उस का अर्थ अव्यभिचार लक्षण वाला एकत्व किया। अब यहाँ पर ‘वा’ शब्द का प्रयोग ‘एकज्ञानान्तर्गतता’ के ही अर्थ में हुआ है जिस से यह फलित होता है कि चित्राकारता को भी संवृति की दृष्टि से कहा जाता है। ‘परमार्थतः तो अद्वैत की स्थिति है’— इस अर्थ की परिकल्पना कर के जो यह कहा जाता है कि आचार्य प्रज्ञाकर ने केवल भेदप्रतीति के निषेध के अभिप्राय से उपर्युक्त बात कही है— “यदि ऐसा है, तो वह अद्वैत नहीं, क्योंकि वह द्वैत रूप है (और) क्योंकि भेदेन चित्रविज्ञान का प्रतिभासन नहीं होता; (पुनश्च, यदि) ऐसा है, तो न वह ज्ञान है, न स्वसंवेदन है”¹⁷— उस का भी (हमारे ऊपर के विश्लेषण से) निरास हो गया, (क्योंकि हम साकारवादी द्वैत से भिन्न करके प्रतिभास होने को अद्वैत नहीं कहते)। द्वैत भेद रूप होता है, अतः उस का प्रतिभास कहाँ होगा? इस कारण (चित्रविज्ञान में) भेदप्रतिभास का अभाव होने पर भी एकत्व कहाँ से होगा? यह प्रश्न किया जा सकता है। (ज्ञानश्री का उत्तर है कि) हम यह प्रतिपादित कर आये हैं कि ‘एक’ का ‘एक ज्ञान के अन्तर्गत होने के रूप में’ भासन होता है। इसी प्रकार शेष बातें भी व्याख्येय हैं कि (चित्र—) प्रतिभास में सभी विरोधों (और भेदों) के स्वभाव की समाप्ति हो जाती है।

‘उदभावनासंवृति के द्वारा, चित्र की भाँति, यहाँ पर भेद भी व्यवस्थार्ह है’ यह पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि (चित्र के) अनुभव (=चित्रविज्ञान) का उदय भेद के विरोध द्वारा (=अभेदपूर्वक) होता है। नील-पीतादि मात्र के द्वारा चित्र की अद्वैतता को बतलाना ही उदभावनासंवृति है, (नील-पीतादि के) भेद का कथन या भेद को बतलाना (उदभावनासंवृति) नहीं है। अभ्यास से भावित (=रंजित) भेदवचन अविचारित तत्त्व का अवरोधक होता है, तत्त्व का नहीं। वस्तुतः वाचक अक्षर (नकार) प्रसज्यप्रतिषेध ही है, अतः उस के द्वारा एकत्व साधित होता है ऐसा समझना लोकभ्रान्ति है। तात्पर्य यह है कि जो ग्राह्यग्राहक के रूप में अभिमत है अथवा ‘चित्र’ शब्द से अभिधेय जो नील, पीत आदि हैं वे

‘चित्र’ अर्थात् अनेक नहीं हैं। ‘अचित्राद्’ (=अनेक न होने के कारण) से यह अभिप्रेत है कि विज्ञान नानारूप नहीं होता, अपितु स्वसंवेदन स्वरूप वाला होता है, इस कारण भेदपूर्वक चित्रप्रतिभास का व्यवस्थापन नहीं होने से नानात्व का निषेधमात्र अभीष्ट है; साथ ही विरोधी के इस कथन का कि ‘एकत्व का निषेध प्रत्यक्ष से ही हो जाता है, अतः (अद्वैतता) कैसे है’ का यह उत्तर है कि प्रकाश दोनों (=एक और अनेक) से विनिर्मुक्त है। क्षणिक कहने से जैसे क्षणिकत्व का कथन हो जाता है वैसे ही ‘यह सत् है’ यह भी कथन हो जाता है, जैसा कि हम पहले ही कह आये हैं। अतः (आचार्य प्रज्ञाकर) जड़ अथवा ग्राह्यग्राहक का अभाव होने के कारण ‘केवल विज्ञान है’ इस अर्थ में ‘अद्वैत’ शब्द का प्रयोग करते हैं, द्वैत के पर्युदास के अर्थ में अथवा ‘एक’ के अर्थ में नहीं। इसे प्रदर्शित करते हुए उन्होंने ने कहा है— “केवल स्वसंवेदन ही अद्वैत है, क्योंकि द्वैत का अभाव है।”¹¹⁸

(ज्ञानश्री यहाँ कहते हैं कि) उन के (=प्रज्ञाकर के) द्वारा पूर्वपक्ष की आशंका के रूप में पहले यह कहा गया है कि “प्रतिभासमान पदार्थ की सत्ता एकत्व—अनेकत्वादि के रूप में क्यों नहीं मानी जाती? विकल्पमान होने पर भी एकत्वानेकत्वादि प्रतिभासित होते ही हैं। यदि उन का भाव नहीं, तो उन का प्रतिभास कैसे होता है? यदि उन का प्रतिभास है, तो अभाव कैसे?”¹¹⁹ (ज्ञानश्री आगे लिखते हैं—) “यहाँ (भाष्य) पर टीका¹²⁰ है कि “एक और अनेक रूप का त्याग कर के जिस का ज्ञानतया उपलब्ध होता है, ‘उपलब्ध ही सत्ता है’¹²¹ इस न्याय से वह (विज्ञान) ‘सत्’ ही है।” (ऊपर) इसे ही सिद्धान्तर के द्वारा व्यक्त किया गया है। (इस सारी विवेचना से आचार्य ज्ञानश्री यह निष्कर्ष निकालते हैं कि) वार्तिककार धर्मकीर्ति का चित्राद्वैतवाद एकत्वोपाधिवाला है, अर्थात् चित्रैकत्ववाद उनका मुख्य अभिप्राय है; जब कि भाष्यकार प्रज्ञाकर इस विषय में दोनों विशेषणों की व्यावृत्ति करते हैं कि विज्ञान न एक है, न अनेक ही। तत्त्वतः दोनों का (=धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकर का) एक ही अभिप्राय है। अभिप्राय को व्यक्त करने की रीति में भेद होने से ‘मुख्य’ और ‘गौण’ अभिप्राय की व्यवस्था की गयी है।

“अतः विचित्र (=विलक्षण) चित्राद्वैत की (सम्यक्) आलोचना किये बिना भाष्यकार का नाम लेकर या उस के बहाने से आचार्य धर्मकीर्ति का दूषण किस के लिए अलंकरण की बात होगी?”

अतः जो लोग आचार्य धर्मकीर्ति और भाष्यकार प्रज्ञाकर के अभिप्राय को अलग-अलग मानते हैं उन की बुद्धि में ही गड़बड़ी है। इस प्रकार विज्ञान (=बुद्धि) रूप चित्र में भी एकत्व की ही उपपत्ति होने से व्यापकानुपलम्भ की भी असिद्धि हो जाती है। “व्यवहारीजन के लिए चित्राद्वैत का कोई उपयोग नहीं है” यह आक्षेप भी हमारे अभिमत के लिए बाधक नहीं, क्योंकि ‘शून्यता’ की तरह ‘चित्राद्वैत’ भी ‘बुद्धगोचर’ है।

(ख) उपसंहार

पूर्वपक्ष— “तत्त्वावबोध और तदितर में अविवेक के कारण दोष होता है।

उत्तरपक्ष— (व्यवहार में हम पाते हैं कि) अपने मुख को न देखता हुआ उलूक सुखपूर्वक जीता है।

(उपर्युक्त तथ्य को प्रस्तुत संदर्भ में स्पष्ट करते हुए ज्ञानश्री लिखते हैं—) यह सिद्ध है कि विज्ञान प्रकाशमान है। अतः साकार चेतना (=विज्ञान, धी अथवा संवित्ति) में विप्रतीति (=अपने स्वरूप से अनभिज्ञ होने की स्थिति) नहीं होती। इसी कारण साकार विज्ञान में यह विशेषता है कि साकार विज्ञान कल्पित ही हो, तो भी स्वरूपतः उस का असत्त्व नहीं होता।”¹²²

“विज्ञान कभी अपने चित्राकारता रूप धर्म से वियुक्त नहीं होता। (ऐसा नहीं मानने पर) विज्ञान की स्वरूपहानि का प्रसंग होने से वह स्वसंवेदनात्मक नहीं होगा; साथ ही विज्ञान को पूर्व भी नहीं कह सकते (क्योंकि ‘पूर्व’ कहने से विज्ञान के वर्तमानकालिक होने के स्वभावभूत धर्म की हानि होने से ‘स्वरूपहानि का प्रसंग’ उपस्थित होगा)।”

(पुनश्च, ‘विज्ञान अपने चित्राकारता रूप धर्म से कभी वियुक्त होता है’ ऐसा मानने का अर्थ होगा कि) “हमें विज्ञान के स्वरूप के प्रसंग में निश्चय ही नहीं था, (क्योंकि हम स्वरूपधर्म को ही वियुक्त होने वाला मान रहे हैं)। ऐसी स्थिति में विज्ञान की चित्राकारता के आकारभेद उद्भावना से उद्भूत होंगे। इनता ही नहीं, तब अन्य की अपेक्षा के अभाव में तत्त्व के आवरण के अनुगामी आकारों में, नील-पीतादि के रूप में कल्पितभेद नहीं हैं, ऐसा मानना पड़ेगा।”

‘पर का बोध’ नाम की कोई चीज कहीं पर नहीं होती (क्योंकि विज्ञानेतर (=किसी जड़)) की सत्ता नहीं होती कि उस का बोध हो)। स्वभावशून्यता हम दोनों (=माध्यमिकों और विज्ञानवादियों) में समान है। ऐसी स्थिति में एक समय ‘संवृति है’ और अन्य समय ‘संवृति नहीं है’ ऐसा विभाग आप प्रासंगिकों ने भी क्यों किया?”

अथवा

“शून्यता का कभी अभाव नहीं होता। शून्यता से इतर कोई साक्षात्क्रिया नहीं होती। न तो दोष का नाश होता है, न गुण का उदय ही। कार्यतः विचार्यमाण कोई संवृति भी नहीं है।”

“इस प्रसंग में जब तक (तात्त्विक) विचार का उदय नहीं होता, तभी तक ‘यह भव है’, ‘निर्वाण इस से अन्य है’ इस प्रकार की नयस्थिति होती है। विचारलीला से लुलित (=संभ्रान्त) मानस में ही ‘संसार क्या है’, ‘निर्वाण क्या है’, ‘क्या यहाँ ही है?’ आदि प्रश्न उठते हैं।”¹²³

और, वैसा ही सूत्रालंकार में (भी कहा गया है)–

“यहाँ (=योगाचार नय में) वास्तविक (=परमार्थ की) दृष्टि से शम (=शान्ति, निर्वाण) और जन्म (=संसार) में किंचित् भी अन्तर नहीं है, तथापि जन्म और क्षय (इन दोनों के मान्य होने) से शुभ कर्म करने वालों के लिए शान्ति (=मोक्ष) के लाभ का विधान किया जाता है।”¹²⁴

‘सदर्थवृत्त्या’ का अर्थ है पारमार्थिक दृष्टि से; शेष बातें संवृति की दृष्टि से हैं।

अभिसमयालंकार में (भी कहा गया है–) “सभी धर्म स्वप्नोपम हैं इस कारण ‘संसार और निर्वाण’ कल्पना नहीं हैं।”

उपर्युक्त कथनों से जाति (=जन्म, संसार, बन्धन) सिद्ध है।

आचार्य नागार्जुन का भी कथन है– “निर्वाण और भव ये दोनों ही विद्यमान नहीं हैं। संसार के परिज्ञान (=सम्यग्ज्ञान) को ही मोक्ष कहा जाता है।”

अतः इस को दूषित करना निरपराध मातृवध जैसा है। अतः प्रकरणगत अर्थ इस प्रकार है– भेद और अभेद, द्वैत और अद्वैत ये सभी बुद्धिरूप में ‘यथातथा रूप में’ हो सकते हैं। (चित्राद्वैत विज्ञान जो कि) प्रकाशस्वरूप है उस की अलीकता नहीं है और विरोधियों द्वारा उत्थापित बाधगन्ध भी उस में नहीं है;” अथवा विरोधियों द्वारा प्रक्षिप्त बाधगन्ध रूप अलीकता भी प्रकाश (=विज्ञान) की नहीं होती।

‘जो जानता है वह विज्ञान है’ इत्यादि के रूप में कल्पित प्रपञ्चशून्यता तो सर्वत्र है। उस रूप में विज्ञान के जो स्वभूतधर्म हैं वे उस रूप में संविदित नहीं होते जिस रूप में वे बालकों, पृथग्जनों (=साधारण लोगों), जो विज्ञानों को सुने हुए नहीं हैं उन्हें और अभिनिवेशग्रस्त लोगों को

संविदित होते हैं इत्यादि इस का विस्तार है। बुद्धि के धर्म भी अन्य बुद्धि से परिकल्पित रूप के द्वारा विद्यमान नहीं होते/उन का सत्त्व नहीं होता, क्योंकि सत्त्व-स्वसंवेदनतया ही होता है। इस (=उपर्युक्त कथन) के द्वारा भगवान् के 'स्वप्नोपमत्व और मायोपमत्व' की भी व्याख्या हो जाती है। दृष्टान्तों में अध्यवसित का ही निषेध होता है, प्रतिभास का नहीं। अतः बाधा के बिना साकार ही भगवान् की सिद्धि कर दी गयी, यह स्थापित हो गया। इस प्रकार से (धर्मकीर्ति के द्वारा प्रणीत प्रमाणवार्तिक के मंगलाचरण के) नमस्कार श्लोक¹²⁵ (विधूतकल्पनाजाल..... इत्यादि) के अर्थ की सिद्धि हो जाती है—

“जिस मुनि (=शाक्यमुनि बुद्ध) का शरीर अपने स्वरूप द्वारा अनुव्यंजन¹²⁶ और लक्षणों को अधिगत करके उदार, अनन्यगोचर होने से गंभीर एवं प्रपंच की लहरों से शून्य है और जिस के निर्माणकायों के द्वारा संसार में ज्ञानप्रकाश स्फुरित होता है वह अलीक से कलंकित नहीं है। अतः (उन का) वह (शरीर) समन्तभद्र है।”

“पुनश्च”, जिस प्रकार (अनेकधा तप्त होने से निःशेष कल्मष होता हुआ) गुणसम्पत्ति के प्रकर्षपर्यन्तावस्था को प्राप्त सुवर्ण अक्षय बना रहता है उसी प्रकार सभी प्राणी आलीक्यकलंक की शंका से रहित (अक्षय) बौद्धवपु (=बुद्धकाय) को प्राप्त करें।”

एन 13/209, एच-12, वृजिन्क्षेत्र कॉलोनी
सुन्दरपुर, वाराणसी-221005

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी —

नोट :- ‘ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि’ और ‘रत्नकीर्तिनिबन्धावलि’ के पृष्ठों की, टिप्पणियों में दी गयी, संख्या ‘काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, द्वितीय संस्करण से हैं।

1. आकार को परमार्थतः भी सत्य और विज्ञान का स्वरूपभूत मानने के कारण साकारविज्ञानवाद को ‘सत्याकारविज्ञानवाद’ भी कहा जाता है, जबकि आकार को ‘समारोप रूप होने से’ बाधयोग्य होने के कारण ‘अलीक’ (=परमार्थतः असत्य, तथापि मात्र व्यवहारतः सत्य) मानने से धर्मोत्तराचार्य के अभिमत को ‘निराकार विज्ञानवाद’ की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इस प्रसंग में ज्ञानश्रीमित्र का धर्मोत्तरादि के अतिरिक्त बौद्ध महायानी माध्यमिकों, विशेषतः प्रासंगिकों के साथ भी

विवाद है। प्रासंगिक भी ज्ञानगत आकार को अलीक मानते हैं। इस अध्याय में आचार्य के प्रमुख प्रतिवादी प्रासंगिक माध्यमिक ही हैं। अतः इस अध्याय में आकारात्मक चित्रता वाले विज्ञान की अद्वैतता को सिद्ध करने के पूर्व आचार्य ज्ञानश्रीमित्र आकार की अलीकता के विषय में माध्यमिकों के पक्ष को प्रश्न के रूप में प्रस्तुत कर उन प्रमुख बिन्दुओं को रेखांकित कर रहे हैं, जिन का निरास कर उन्हें स्वाभिमत को सिद्ध करना है। 'अनुभवस्वभाव' के साथ 'भी' जोड़कर वे इस तथ्य पर बल दे रहे हैं (=आग्रह कर रहे हैं) कि आकार के साथ अनुभूत होना और बिना आकार के अनुभूत न होना जिस का स्वभाव है ऐसे विज्ञान की अलीकता की जो बात आप माध्यमिक कर रहे हैं, वह युक्त नहीं है; साथ ही वे यह प्रश्न भी खड़ा कर रहे हैं कि वह कौन-सी अथवा किस प्रकार की अलीकता है जो आप आकार में बतला रहे हैं। आगे आचार्य इन सब की सूक्ष्म विवेचना कर एक-एक बिन्दु का निराकरण करेंगे।

2. निराकारज्ञानवादी माध्यमिक और निराकारविज्ञानवादी धर्मोत्तर भी साकारविज्ञानवाद के विरोध में दो बातें समान रूप से मानते हैं— (1) विज्ञान के साथ आकार का जो योग है वह अलीक है और परमार्थतः प्रकाशमात्र की ही स्थिति है। (2) साकारविज्ञान में आकार समारोप रूप है, अतः बाधित हो जाने के कारण वह अलीक है। आकार व्यापकानुपलंभ द्वारा बाधित होता है। इस प्रसंग में प्रश्न पूँछकर बाध्यबाधकभाव विषयक प्रश्न के विवेचित होने की ओर संकेत किया जा रहा है। आकार के अलीक होने से सम्बद्ध जो दो प्रमुख मुद्दे हैं उन का उल्लेख आचार्य रत्नकीर्ति ने भी किया है। देखें, रत्नकीर्तिनिबन्धावलि के अन्तर्गत 'चित्राद्वैतप्रकाशवादः' नामक उन का निबन्ध, पृ० 129, पंक्ति 4-6; काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1975
3. यहाँ जिस व्यापकानुपलंभ की ओर संकेत किया जा रहा है, वह इस प्रकार है— 'यद् येन रूपेण नैकं नानेकं, न तत् तेन सत्। तद् यथा दुःखं सुखरूपेण। नैकं नानेकं च विज्ञानं नीलादिरूपेणेति व्यापकानुपलब्धिरिति।'— ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि, पृ० 377, पंक्ति 8-9; काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना प्रकाशन : द्वितीय संस्करण, 1987।

आचार्य ज्ञानश्रीमित्र ने वहीं पर इस का खण्डन कर दिया है। खण्डन के लिए देखें, मूल ग्रन्थ, पृ० 377। हिन्दी में इसके लिए देखें— 'बौद्धप्रमाणमीमांसा; प्रत्यक्ष के विशेष संदर्भ में, पृ० 376-377

4. विक्रीतगविरक्षणम् — का शाब्दिक अर्थ है अन्य को बेची गयी और अन्य के सत्त्वाधिकार के अन्तर्गत आने वाली गाय का रक्षण। यहाँ ज्ञानश्रीमित्र द्वारा इस वाक्य का प्रयोग प्रासंगिक माध्यमिकों के विरुद्ध व्यंगात्मक आलोचना के रूप में किया गया है। सामान्यतः प्रत्येक दर्शन का अपना पक्ष या अपनी दृष्टि 'समस्या विशेष' के संदर्भ में होती है। परन्तु प्रासंगिक माध्यमिकों की घोषणा है कि उन का

अपना कोई स्वतन्त्र पक्ष नहीं— “न हि वयं स्वतन्त्रमनुमानं कर्तुं प्रयुज्महे, परप्रतिज्ञानिषेधफलत्वात् हि अस्मदनुमानानाम्”— चन्द्रकीर्ति। ऐसी स्थिति में प्रासंगिक किसी दार्शनिक मत का दूषण करें तो उचित ही है। परन्तु जो किसी अन्य का पक्ष हो, तो वह उन के लिए ‘विक्रीत गाय’ है, क्योंकि ‘गाय’ रूप पक्ष पर वे अन्य का स्वत्वाधिकार मानते हैं। अतः ज्ञाननिराकारवाद अथवा विज्ञाननिराकारवाद, जो क्रमशः वस्तुतन्त्रवादियों—यथार्थवादियों तथा धर्मोत्तरादि का अभिमत है, के मण्डनार्थ युक्ति देकर उस की रक्षा में रत रहने का प्रयास ‘विक्रीतगविरक्षणम्’ ही है। इतना ही नहीं, अनेक बार विविध प्रसंगों में निराकारवाद को उचित ठहराना दार्शनिक पक्षधरता का प्रतीक है और स्वप्रतिज्ञाभंग का भी उदाहरण है। आचार्य ने उपर्युक्त टिप्पणी द्वारा प्रासंगिकों के इस कार्य की निंदा की है।

5. ‘बाध्यबाधकभाव सांवृत है’ इसे स्वयं ज्ञानश्रीमित्र ने इसी चतुर्थ परिच्छेद, पृ० 438—39 में प्रतिपादित किया है। असत्ख्याति में व्याप्त विरोधों का प्रतिपादन आचार्य ज्ञानश्रीमित्र ने ‘साकारसिद्धिशास्त्रम्’ के ‘संक्लेशव्यवदानव्यवस्था’ नामक द्वितीय परिच्छेद, पृ० 391—393 में किया है। साथ ही इस के लिए ‘रत्नकीर्तिनिबन्धावलि’ के अन्तर्गत ‘चित्रद्वैतप्रकाशवादः’, पृ० 136 के अंतिम चार श्लोक और पृ० 137 का प्रथम श्लोक भी द्रष्टव्य है।

6. विज्ञानवाद में प्रारंभ से ही, जैसे महायानसूत्रालंकार, 23/19 में, चित्त को ‘चेतन’ और ‘प्रकृतिः प्रभास्वर’ माना गया है। न्यायानुयायी विज्ञानवाद के जनक दिग्नाग भी ज्ञान की स्वसंवेदनता को स्वीकार करते हैं। धर्मकीर्ति ने तो इसे प्रत्यक्ष का एक प्रकार भी माना और इस का लक्षण भी किया। इतना ही नहीं उन्होंने ने प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्षपरिच्छेद में उस की सिद्धि पर सविस्तार विवेचन किया। प्रज्ञाकराचार्य ने पारमार्थिक दृष्टि से स्वसंवेदन को एकमात्र प्रमाण माना और इस का लक्षण करते हुए लिखा— ‘एतदेव स्वसंवेदनं यदन्यागोचरत्वेसति प्रकाशनन्नाम। प्र०वा०भा०, पृ० 444। ज्ञानश्री इसी कारण ‘स्वसंवेदन’ नामक एक अलग परिच्छेद भी (=पंचम परिच्छेद भी) ‘साकारसिद्धिशास्त्रम्’ में लिखते हैं और प्रज्ञाकराचार्य की भांति स्वसंवेदन को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं— “स्वप्रकाशिनि तु नान्यापेक्षिततथासिद्धिरेव स्वसंवेदनस्थितिः”, पृ० 481, पंक्ति 20—21। वस्तुतः स्वसंवेदन ही विज्ञान के चेतन होने तथा जड़ से व्यावृत्त होने अथवा विज्ञान की अजडरूपता का प्रतीक है। क्योंकि संवित्, प्रतिभास, वित्ति, प्रकाश, निर्भास, संवेदन, संवित्ति आदि शब्द विज्ञान के पर्यायवाची हैं, अतः विज्ञानवाद में स्वसंवेदन का अर्थ स्वप्रकाश भी होता है। यह स्वयंप्रकाश या स्वसंवेदन अद्वैत रूप है, क्योंकि तदन्य का अभाव है = “तस्मात् स्वसंवेदनमेव केवलमद्वैतमपरस्याभावादिति” — प्र.वा.भा., पृ. 290।

ज्ञानश्री एवं रत्नकीर्ति प्रज्ञाकर के इस विश्लेषण से सहमत हैं और इसी कारण स्वसंवेदन को ‘अखण्डलक विज्ञान’ कहते हैं। ज्ञानश्री इसे ‘अद्वैतबिन्दु’ कहते हैं।

ऐसे अखण्डलक, अद्वैत एवं चेतन विज्ञान के स्वसंवेदनत्व के सिद्ध होते ही सारा ज्ञेय जगत् उस के भीतर आत्मसात हो जाता है जिस से एक ओर ज्ञानभिन्न जगत् का अनस्तित्व सिद्ध होकर विज्ञान की अद्वैतता प्रमाणित होती है, तो दूसरी ओर बाह्यार्थ के अस्तित्व की अविद्यमानता की स्थिति में बाह्यार्थवादियों की सारी धार्मिक और सामाजिक व्यवस्थाएँ ध्वस्त हो जाती हैं। उपर्युक्त तथा स्वसंवेदनत्व से सम्बद्ध अन्य तथ्यों की दृष्टि से, अद्वैतवेदान्त के ज्ञान के स्वप्रकाशत्व और अखण्डार्थत्व के विकास में भी, विज्ञानवाद का महत्त्व परिलक्षित होता है।

प्रस्तुत संदर्भ में यह द्रष्टव्य है कि दर्शनशास्त्र में ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में यह अतिमहत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या एक ज्ञान दूसरे ज्ञान को बाधित कर सकता है? कैसा ज्ञान बाधित होता है और कौन ज्ञान बाधक बन सकता है? इस अध्याय में आगे आचार्य यह स्वयं प्रसाधित करेंगे कि जो स्वसंवेदन से रक्षित है उसे किसी से हानि नहीं पहुँचती, क्योंकि स्वसंवेदन के ही प्रामाण्य से इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनुमान में प्रामाणिकता आती है। स्वसंवेदन ही प्रामाण्य की योनि है। अतः इन्द्रियप्रत्यक्ष अथवा अनुमान और उन के प्रकार स्वसंवेदनसिद्ध तथ्य को बाधित नहीं कर सकते। प्रामाण्यबल स्वसंवेदन के ही पास है। उस के बल से अन्य प्रमाणों में बल आता है। अतः स्वसंवेदनसिद्ध साकारता का व्यापकानुपलम्भ द्वारा बाधन संभव नहीं। कारण यह है कि व्यापकानुपलम्भ के पास अपना बल नहीं है, अपितु वह स्वसंवेदन का बल है। अतः स्वसंवेदन अधिक बलवान है, क्योंकि अपने ही बल से कोई बली होता है।

7. यहाँ 'महासम्मत' से भगवान् बुद्ध और 'श्री हर्ष' से सम्राट हर्षवर्धन (590-648 ई०) अभिष्ट हैं, खण्डनकार श्रीहर्ष नहीं।
8. चित्राद्वैत के प्रसंग में 'अध्यवसाय' विषयक विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य है—रत्नकीर्तिनिबन्धावलि के अन्तर्गत 'चित्राद्वैतप्रकाशवादः' नामक, निबन्ध, पृ० 133 से 137 तक। हिन्दी में इस विषयवस्तु के लिए देखें, उपर्युक्त निबंध का मेरे द्वारा किया गया हिन्दी रूपान्तर—'उन्मीलन' नामक पत्रिका, पृ० 129-138; अंक 2, जुलाई 2015, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर।
9. विज्ञानवादी किसी बाह्यार्थ को ज्ञान का आलम्बन नहीं मानते। अतः उन्हें निरालम्बनवादी कहा जाता है। किन्तु इस का यह अर्थ नहीं है कि साकार विज्ञानवादी ज्ञान का आलम्बन नहीं मानते। ज्ञान का आलम्बन होता है, किन्तु वह विज्ञान ही होता है जिसे 'ग्राह्यविज्ञान' कहा जाता है। दिग्नाग की 'आलम्बनपरीक्षा' की आलोचना 'कुमारिल' ने 'श्लोकवार्तिक' के 'निरालम्बननिराकरणपरिच्छेद' में की थी। इन में से 78 श्लोकों को क्रमशः उठाकर प्रज्ञाकराचार्य ने अलंकारभाष्य में उन का उत्तर दिया है। देखें प्र०वा० भाष्य, पृ० 367-387। हिन्दी में इसके लिए देखें; 'प्रमाणवातिकम्', द्वितीय भाग, स्वामी योगीन्द्रानन्द; चौखम्भा विद्याभवन, 2005, पृ० 886-925। इसी आलोक में आचार्य ज्ञानश्री कह रहे हैं कि आलम्बनशून्यता का प्रतिपादन बाधा का अर्थ नहीं है।

10. अद्वैत अभेद की स्थिति है, अतः उस में जब अन्य-अन्य की स्थिति ही नहीं रहेगी, तो 'अन्योन्यबाधा' की बात करना दुःसाहस ही है।
11. व्यवहार में मनुष्य अनुमान, युक्ति अथवा बुद्धिविवेक पूर्वक हेय और अनुष्ठेय का निर्धारण कर निवृत्ति और प्रवृत्ति का आचरण करता है। इसी ओर संकेत है।
12. अभ्यासवासना के कारण जो बाह्य आरोपित होता है उस आरोपित बाह्य के आकार के प्रति ही इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण का व्यापार होता है। कोई भी प्रमाण आकार का अतिक्रमण कर व्यापार नहीं करता। 'नाकारभेदमवधूयधियोऽस्ति वृत्तिः' को ही यहाँ प्रकारान्तर से अभिव्यक्त किया गया है।
13. विरोधपक्ष के आक्षेप का आशय यह है कि साकार विज्ञानवादी चित्रविज्ञान का जो उदाहरण प्रस्तुत कर रहा है उस में गड़बड़ी यह है कि चित्र बाह्य अर्थ है, किन्तु उसे विज्ञानवादी ज्ञानरूप बतलाते हैं। दूसरी बात यह है कि चित्र में अनेकता होती है, उसे वे एक अथवा अद्वैत कह रह हैं। अतः बाह्य चित्र को ज्ञानरूप बताकर बाह्य अर्थ में प्रमा के साधनों के व्यापार न करने का पक्ष दोषयुक्त है।
14. टिप्पणी 13 में प्रस्तुत पक्ष वैसा ही है जैसे कि कोई पुरुष अश्व पर आरुढ़ होकर चल रहा हो और साथ ही अश्व को विस्मृत कर उस के न होने की बात करे। चित्र बाह्य होता है और उस में विविध वर्ण एक-दूसरे से पृथक् रूप में रहते हैं, साथ ही वे ज्ञाता से बाह्य और ज्ञान से भी स्वतन्त्र अर्थ के रूप में विद्यमान होते हैं। अतः ऐसे चित्र को दृष्टान्त बनाकर उन्हें ज्ञानरूप और एकरूप अथवा एकभाव वाला मानना और 'बाह्य में प्रमा के साधन व्यापार नहीं करते' ऐसा कहना, अश्वारुढ़ पुरुष द्वारा अश्व के विस्मरण वृत्तान्त का अनुसरण करना ही है।
15. 'शक्ति उन्मुक्त हो जायगी'— इस कथन द्वारा पूर्वपक्ष की ओर से यह आपत्ति उठायी जा रही है कि चूँकि चित्राद्वैतवादी ऊपर यह कह आये हैं कि 'अध्यवसित बाह्य ही बाधित होता है और इस से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वह अध्यवसित बाह्य जड़ है या बुद्धि रूप, अतः इस स्थिति में नील-पीतादि ही बाधविषय होंगे। परिणामस्वरूप बाधकज्ञान और बाह्य के रूप में अध्यवसित बाद के नील-पीतादि के ज्ञान में अर्थक्रियाशक्ति का अर्थ से जो निबन्धन है वह नहीं रहेगा, क्योंकि अध्यवसित अर्थ स्वलक्षणरूप नहीं होता, जबकि स्वलक्षण ही अर्थक्रियासमर्थ होता है।
द्रष्टव्य है कि यह आक्षेप चित्राद्वैत के प्रसंग में इस लिए भी अप्रासंगिक है, क्योंकि चित्राद्वैत के प्रसंग में ज्ञानश्री शक्तिलक्षणसत्ता को नहीं, अपितु प्रतिभासलक्षणसत्ता को मानते हैं। प्रतिभासलक्षणसत्ता के विस्तृत परिचय के लिए देखें—ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि, पृ० 399-405, साकारसिद्धिशास्त्रम् का द्वितीय परिच्छेद।
16. विरोधी द्वारा यहाँ यह इंगित करना अभिप्रेत है कि बाह्यग्राह्यव्यवस्था की अपेक्षा से ऐसा कोई नियम नहीं है कि बाधक सर्वथा बाह्यग्राह्यव्यवस्था का नान्तरीयक होता है।
17. यहाँ नीलाकार प्रतीक या दृष्टान्त मात्र है। अभिप्राय सभी आकारों के बाधित होने से है, चाहे वे बाह्य हों या आन्तर।

18. यहाँ आचार्य इस बात पर बल दे रहे हैं कि जब यह सिद्ध है कि विज्ञप्तिमात्रता की स्थिति में बाधन की बात नहीं हो सकती, तो विज्ञप्तिमात्रता के अनन्तर वासनाबल से बाध्यबाधकभाव रूप विप्लव के उत्थापित होने की बात संभव होगी। अतः जब बाधा की बात होगी, तो वहाँ वासनाबल से बाधा की नान्तरीयता का परिहार नहीं किया जा सकता।
19. यहाँ पाठक की सुविधा को ध्यान में रखकर तात्पर्य को रखा गया है।
20. तात्पर्य यह है कि जब 'स्व' और 'पर' का एक ही विषय रहेगा, तो उन में व्यभिचार या विसंवादित्व न होकर संवादकता की ही स्थिति रहेगी।
21. तात्पर्य यह है कि भेद होने की स्थिति में विरोधी की युक्ति नील का कदापि स्पर्श नहीं करती, उस को बाधित करना तो दूर की बात है।
22. देखें, ऊपर टिप्पणी, पृ. 20
23. बिना प्रमाणों के अवतार के भी चूँकि तत्त्व की सिद्धि हो जाती है, अतः प्रमाणों का अनवतार-साध्य को बाधित नहीं करता।
24. भौतआचमन— जो मात्र कहने को हो, जिस में कोई सार न हो।
25. आरोप जिस पर होता है वह तदन्य और तदबाह्य होता है। विज्ञप्तिमात्रता की प्रतीति हो जाने पर, चूँकि प्रमाणों का अवतरण नहीं होता, अतः व्यापकानुपलम्ब द्वारा विज्ञान के स्वरूपभूत नील-पीतादि आकारों का बाध नहीं हो सकता। नील-पीतादि आकार समारोप रूप नहीं, अपितु विज्ञान के स्वरूपभूत हैं, अतः उन का बाध नहीं होगा। अभ्यासवासनावश विज्ञान पर आरोपित होकर जो बाह्यार्थ के रूप में अध्यवसित होते हैं, उन्हीं का बाध होता है। अतः बाध व्यवहार में ही होता है।
26. विरोधी पूछता है— हम ने ऊपर जो कुछ कहा है उस में अनुमान का कौन-सा दोष है?
27. इस से आचार्य यह इंगित करते हैं कि व्यापकानुपलम्ब द्वारा स्वसंवेदनसिद्ध साकारता का बाधन असंभव है।
28. ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि, पृ० 363-364। द्रष्टव्य रत्नकीर्तिनिबन्धावलि भी, पृ० 86 प्रमाणान्तर्भावप्रकरणम् का प्रारंभिक अंश
29. यहाँ आचार्य जन्म देने वाली की अकुलीनता में कुलीनता के आशंसन की जो बात कर रहे हैं वह गुणात्मक वैशिष्ट्य से सम्बद्ध है, जातिगतभेद से नहीं, क्योंकि बौद्ध जातिव्यवस्था और तदजन्य ऊच-नीच के भेद को नहीं मानते।
30. मूल में 'युग' के स्थान पर 'युग' पाठ होना चाहिए।
31. 'पक्ष' पर विस्तार के लिए द्रष्टव्य—न्यायबिन्दु 3.38 पर धर्मात्तर की टीका और दुर्वेक मिश्र का प्रदीप
32. इस से ज्ञानश्रीमित्र यह इंगित कर रहे हैं कि प्रकाशमान नील-पीताकार धर्मी में नील, पीतादि जो अप्रतिभासी धर्म हैं उन का जो बाह्य अर्थ के रूप में अध्यवसाय किया गया है, उसी का व्यवहार का आश्रय लेकर विधान या निषेध हो सकता है, भले

ही वे शब्दादिव्यवहार से विरहित हों, अथवा उस के योग्य हों। आचार्य इस के लिए कारण भी बतलाते हैं कि उन की यह योग्यता परोक्ष होती है। अतः आकार का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि उस का साक्षात्कार होता है।

33. द्रष्टव्य, प्र०वा० 3/205-06 मनोरथनन्दिवृत्ति के साथ
 34. प्र०वा० 4.91
 35. विस्तार के लिए देखें— 'ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि' के अन्तर्गत 'अपोहप्रकरणम्', पृ० 201-232 तथा 'रत्नकीर्तिनिबन्धावलि', पृ० 58-66 'अपोहसिद्धि' नामक निबन्ध
 36. आकार ही व्यवहार में भी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति कराता है, क्योंकि प्रत्यक्ष में हमें उसी की प्राप्ति होती है। बौद्ध इस प्रसंग में हस्तिआकार द्वारा महाराज उदयन के बन्दी होने के आख्यान का उल्लेख करते हैं।
 37. बाह्य, जिस की सत्ता नहीं है उस, में भी प्रत्यक्षतः परिस्फुरित आकार का निषेध जब नहीं होता, तो सभी प्रमाणों की योनि स्वसंवेदन में परिस्फुरित आकार तो सुतरां अनिषेध्य होगा।
 38. स्वसंवेदन पारमार्थिक प्रमाण मात्र नहीं है, अपितु केवल स्वसंवेदन ही अद्वैत है। अद्वैत ही परमार्थ का अपर अभिधान है, अतः ज्ञानश्री घोषणा कर रहे हैं कि "जो स्वसंवित्तः सिद्ध है वह तत्त्वतः भी सिद्ध है।" इस कथन से यह प्रतिपादित हो रहा है कि 'स्वसंवित्तः सिद्ध आकार तत्त्वतः भी सिद्ध है और वह अलीक नहीं है।"
 39. यह भी एक ऐसा विचारबिन्दु है जिस पर प्रासंगिक माध्यमिकों के साथ ज्ञानश्री का प्रबल मतभेद है। ज्ञानश्री पृथग्जन की संवृत्ति के समाश्रयण के पक्षधर नहीं। वे युक्ति, विवेक, तर्क और प्रमाणसम्मत संवृत्ति के पक्षधर हैं और इसे ही 'सत्संवृत्ति' कह रहे हैं। यही कारण है कि चन्द्रकीर्ति जैसे प्रासंगिक-माध्यमिक दार्शनिक द्वारा मान्य न्याय-वैशेषिक की प्रमाणव्यवस्था के स्थान पर प्रामाण्य और प्रमाणों तथा भ्रम और सत्ता के विषय में ज्ञानश्री का अपना दृष्टिकोण है। उन की रचनाओं से बौद्ध प्रमाणमीमांसा चरमोत्कर्ष पर तो पहुँची ही 'ज्ञान की स्वप्रकाशता और अखण्डार्थत्व' का अद्वैत वेदान्त में भविष्य में जो विकास हुआ उस में भी उन का योगदान विद्वानों द्वारा माना जाता है।
- 'चन्द्रकीर्ति न्याय के चार प्रमाण को मानते थे' इस के लिए और 'प्रासंगिक माध्यमिकों की प्रमाण-प्रमेयव्यवस्था' के लिए देखें, — *Madhyamika Dialectic And the Philosophy of Nagarjuna* नामक ग्रन्थ में 'नागार्जुन के प्रासंगिक मत की प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था' नामक निबन्ध, पृ० 51-64; साथ ही देखें इसी निबन्ध की टिप्पणी, संख्या 26। *Tibetan Institute Publication, Sarnath, U.P. 1977*।
40. ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि, पृ० 363-364
 41. "युक्तोपलम्भमनुलभमाना नास्तीत्याहुः।" यह वाक्यांश धर्मकीर्तिरचित 'प्रमाणविनिश्चय', पृ. 3 में भी उद्धृत है। अतः यह धर्मकीर्ति के पूर्व के किसी ग्रन्थ का अंश हो सकता है, अथवा परंपरा से आयात। वह वाक्यांश धर्मकीर्ति ने 'प्रत्यक्ष

परिच्छेद' की प्रथम कारिका की गद्यात्मक व्याख्या में उद्धृत किया है। देखें—

Dharmakirti's PRAMANAVINISCAJA, Chapter, 1 and 2. Critically edited by Ernst Steinkellner: Published from – China Tibetology Publishing House. Austrian Academy of Sciences Press. BEIJING-VIENNA, 2007

प्र० वा० 2/54 पर प्रज्ञाकर के भाष्य में अभिव्यक्त "उपलंभ ही सत्ता है" के विचार को ही 'प्रतिभासलक्षणसत्ता' के रूप में बाद को विकसित किया गया जिस के चरमोत्कर्ष की प्राप्ति ज्ञानश्रीमित्र के 'साकारसिद्धिशास्त्रम्' नामक निबन्ध में होती है। प्रज्ञाकराचार्य ने 'उपलंभ ही सत्ता है' इसे अपने भाष्य, पृ० 213-214 में प्रसाधित किया है। इस के हिन्दी में विवरण के लिए देखें— 'प्रमाणवार्तिकम्', प्रथम भाग, पृ० 514-18: स्वामी योगीन्द्रानन्दकृत हिन्दी व्याख्या : षड्दर्शन प्रकाशन संस्थान, वाराणसी, 1991।

42. चूँकि लोकप्रसिद्धसत्ता में दो ही पक्ष हैं— 'शक्तिलक्षणसत्ता और प्रतिभासलक्षणसत्ता' और चित्राद्वैत के प्रसंग में हम साकार विज्ञानवादी भी शक्तिलक्षणसत्ता का प्रतिवाद कर चुके हैं (द्रष्टव्य 'साकारसिद्धिशास्त्रम्' का द्वितीय परिच्छेद, पृ० 399-405), अतः माध्यमिक यदि शक्तिलक्षणसत्ता को बाधित करते हैं, तो 'सिद्धसाधन' का दोष होगा, क्योंकि वे पहले से ही सिद्ध बात को साधित कर रहे हैं।
43. माध्यमिकों का कहना है जो न्याय हमारे पक्ष में 'सिद्धसाधन' को उत्पन्न कर रहा है वही न्याय आप पर भी प्रयुक्त होकर 'सिद्धसाधनदोष' को उत्पन्न करेगा, क्योंकि आप भी पहले से सिद्ध 'प्रतिभासलक्षणसत्ता' को ही, शक्तिलक्षणसत्ता के दूषण के द्वारा, साधित करेंगे।
44. चूँकि साकारवादियों के समक्ष दूषित पक्ष के रूप में अर्थक्रियाशक्तिलक्षणसत्ता रहती है, अतः प्रतिभासलक्षणसत्ता नामक पक्ष को हानि नहीं होती।
45. आशय यह है कि चूँकि बाह्यार्थ है नहीं, अतः अर्थ में जो शक्ति मानी जा रही है वह कल्पना से आरोपित है। आकार इस से रहित होता है। आकार प्रकाशस्वरूप है, समारोप रूप नहीं। यह बात 'साकारसिद्धिशास्त्रम्' के प्रथम परिच्छेद में प्रसाधित की जा चुकी है, अतः उस की सत्ता का निवारण नहीं हो सकता।
46. वहीं
47. आकार स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्ध है और व्यापकानुपलंभ में जो आप का पक्ष है वह प्रत्यक्ष को बाधित कर रहा है। अनुमान स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से सिद्ध आकार का बाधन करे, यह अयुक्त पक्ष है, इस की ओर संकेत किया जा रहा है।
48. माध्यमिकों की निःस्वभावता निरुपाधिक है। अतः सभी धर्म अर्थात् जीव, जगत्, कर्म, कर्मफल, बंध और निर्वाण सभी, स्वभावशून्य हैं, निःस्वभाव हैं। विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान सस्वभाव है। वह निःस्वभाव इस लिए कहा जाता है, क्योंकि वह ग्राह्यग्राहक, ज्ञाप्यज्ञापक, द्रव्यगुण, एकानेक आदि द्वैतों से शून्य है। इसी रीतिभेद की ओर यहाँ संकेत किया गया है।

49. यहाँ आचार्य ज्ञानश्री यह इंगित कर रहे हैं कि जैसे 'नृपति' में दो घटक शब्द हैं— 'नृ' और 'पति' और इन शब्दों के अपने-अपने अर्थ हैं, तथापि जब ये दोनों 'समस्त पद' बनते हैं, तो अपने भेदार्थ का त्याग कर 'एक' अर्थात् अभेदार्थ, जैसे 'राजा' के वाचक होते हैं, वैसी ही स्थिति 'चित्राद्वैत' की भी है। यद्यपि 'चित्र' और 'अद्वैत' दो शब्दों से 'चित्राद्वैत' समस्त पद गठित होता है, तथापि नृपति की भाँति वह भी एक ही सिद्धान्त का वाचक है जिसे 'चित्रैकत्व' अथवा 'विज्ञानाद्वैत' के नाम से अभिहित किया जा सकता है।
50. यहाँ आचार्य यह बताना चाहते हैं कि जैसे भगवान् बुद्ध अपनी 'महाप्रज्ञा' और 'महाकरुणा' से आप्लावित होकर 'कलिकलुषकृतानि यानि लोके मयि तानि पतन्तु, विमुच्यतां हि लोकः' का आह्वान करते हैं वैसे ही हमें भी 'बुद्धशरण' में जाकर उन की भाँति, बोधिसत्त्वभूमि को प्राप्त कर लोककल्याण में रत रहना चाहिए।
51. नील आलवलय = Blue Canvass.
52. ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि, पृ. 445, पंक्ति 1 और 13 में 'चैत्र' के स्थान पर 'चित्र' पाठ वांछनीय है।
53. 'गोचर' तथा 'भाग' के स्थान पर 'गोचर के भाग' यह भी अर्थ संभव है। संदर्भ के अनुसार भाव यह है कि जैसे भगवान् बुद्ध की समाधि में साक्षात्कृत 'दुःखसमुदय' नामक गोचर के द्वादशभाग की व्यवस्था की गयी है, अथवा उन के अन्य 'गोचर' के विषय में विविध अंगों या प्रकारों की व्यवस्था की गयी है, वैसा ही 'चित्र' को 'एक' कहने के विषय में भी समझना चाहिए। यहाँ 'गोचर' का अर्थ है 'समाधि' में ज्ञात विषय और 'भाग' का अर्थ है 'अंश' अथवा 'प्रकार'।
54. अनुभूयमान नील या पीतविज्ञान का साक्षात्कार होता है, क्योंकि अपरोक्षता और अविभागरूप होना ज्ञान का स्वभाव है। अतः अनुभूयमान पीत से नील को पृथक् करने वाला उसे बाह्य अर्थ के रूप में लेकर ज्ञान से इतर अज्ञानरूप बना देता है। आचार्य यहाँ इंगित कर रहे हैं कि विज्ञान का विभाग नहीं हो सकता, विभाग या पृथक्करण अर्थ अर्थात् जड़ का हो सकता है जो कि अज्ञान रूप होता है। देखें, प्र.वा. 2.220 पर मनोरथनन्दि की वृत्ति
55. ज्ञानश्रीनिबन्धावलि, पृ. 440 का अन्तिम श्लोक। हिन्दी में देखें सम्बद्ध पृष्ठ पर अनुवाद
56. ज्ञान. निब., पृ. 445 में उद्धृत पाठ। मनोरथनन्दिवृत्ति में 'तत्तथैवानुभूयते' के स्थान पर 'तत्तथैव प्रकाशते' पाठ है और 'चित्राकारेऽपि' के स्थान पर प्रज्ञाकरभाष्य और मनोरथनन्दि दोनों में ही 'चित्राकारस्य' पाठ है। प्रज्ञाकरभाष्य में 'चेतसि' के स्थान पर 'चेतसः' पाठ है। इतना ही नहीं ज्ञानश्रीमित्र स्वयं भी एक अन्य पाठान्तर के साथ (मूल पाठ, पृ. 448 में) इसे उद्धृत करते हैं, जो इस प्रकार है—
यद् यथा भासते ज्ञानं तत्तथैवोपगम्यते। इति नामैकभावः स्याच्चित्राकारस्य चेतसः'।।
इस प्रकार ज्ञानश्री पृ. 448 में शत प्रतिशत रूप में प्रज्ञाकर के पाठ का अनुसरण

करते हैं। पृ० 445 में (=यहाँ पर) अपना पाठ प्रस्तुत कर नीचे उस की व्याख्या कर रहे हैं। मनोरथनन्दिवृत्ति, प्र.वा. 2/221 का अनुवाद इस प्रकार है— “जो ज्ञान जिस रूप में भासित होता है वह ज्ञान उसी रूप में सभी प्रतिपत्ताओं द्वारा अनुभव में भी आता है। भासमानस्वभाव वाला होने से स्वप्रकाशक ज्ञान में कोई भी अविदित आकार नहीं। अतः चित्रज्ञान में एकत्व हो, तो कोई दोष नहीं है।

57. ज्ञान. निब., पृ. 445, आगे कई स्थलों पर इस अर्थ में ‘भासते’ का प्रयोग आचार्य ने किया है।
58. आशंका में अभिव्यक्त दृष्टिकोण का आशय यह है कि ‘चित्र’ को एकानेक-स्वभाव-विरहित मानने पर ‘यच्चित्रं तदेकम्’ अथवा ‘यच्चित्रं तदनेकम्’ इस व्याप्ति के अनुसार ‘तत् व्यापक जो एकत्व है वह नहीं है, तथापि तद्व्याप्य चित्र है’ वह ज्ञान का विषय कैसे हो सकता है? क्योंकि ऐसा मानने पर अग्नि आदि के साधक किसी भी हेतु में कहीं भी अग्नि आदि के साधन में विश्वास नहीं होगा। यदि कहें कि चित्र उभयात्मक है, तो क्योंकि भावों में एक का विधान/निषेध होने पर अन्य का निषेध/विधान होता है और क्योंकि तीसरी कोई राशि नहीं है, अतः उभयपक्ष की भाँति अनुभयपक्ष भी अशक्य है। इसलिए लक्षणकरणकाल (=चित्र के स्वरूपनिरूपण के समय) में ही ‘एक’ और ‘अनेक’ इन दो रूपों से व्याप्ति सिद्ध है, अर्थात् व्याप्ति का लक्षण बनाने के समय में अन्वय और व्यतिरेक दो प्रकारों से व्याप्ति सिद्ध है, ऐसा माना जाता है। यदि विज्ञानवादी कहें कि हमारे मत में तो वस्तु (=विज्ञान) के स्वभाव के कारण उभयाभाव (=अनुभय रूप) बाधक नहीं है, तो विज्ञानवाद का ऐसा कहना असम्बद्ध है।
59. ज्ञानश्रीमित्र यह इंगित कर रहे हैं कि जब ‘विपक्ष’ में हेतु का साक्षात् दर्शन होने पर भी कोई क्षति नहीं होती, तो ‘सपक्ष’ में अथवा अन्यत्र हेतु के विषय में संदेह मात्र करने से कुछ भी नहीं बिगड़ेगा।
60. यहाँ पर मूल में ‘अध्यक्षबाधनादरात्’ के स्थान पर ‘प्रत्यक्षबाधानादरात्’ पाठ होगा।
61. ज्ञानश्री ने यहाँ—‘पक्ष’ में व्याभिचार नहीं दिखाया जाता, अपितु ‘सपक्ष’ में ‘हेतु’ की स्थिति में संदेह अथवा ‘हेतु’ के असत्त्व का निश्चय होने तथा ‘विपक्ष’ में ‘हेतु’ के असत्त्व में संदेह होने अथवा ‘विपक्ष’ में हेतु के सत्त्व का निश्चय होने पर व्यभिचार होता है’ — इस सामान्यनियम पर आलोचनात्मक टिप्पणी करते हुए उपर्युक्त बातें कही हैं। ज्ञानश्री का पक्ष है कि व्यभिचारप्रदर्शन या अनुमान की निर्दुष्टता के निर्धारण का मापदण्ड या निकष ‘प्रमाणवृत्ति’ है। किसी को ‘पक्ष’ बना लेना मात्र हेतु के व्यभिचारी न होने का लक्षण नहीं है और न ही यह बौध अनुमान का प्रमाण है। ‘सपक्ष’ या ‘विपक्ष’ में व्यभिचारदोष के लिए देखें न्यायबिन्दु 3/93, 96 पर धर्मोत्तर की ‘टीका’ और दुर्बेक मिश्र का ‘प्रदीप’।
62. “इदं तत्” (=यह वह है) इस की अपेक्षा से अर्थात् ‘इदमर्थ’ की अपेक्षा से ‘तदर्थ’ न तो भिन्न है और न अभिन्न है, ऐसा नहीं कह सकते। फलतः बाह्यार्थ में उभयात्मकता और अनुभयात्मकता में ‘प्रत्यक्षबाध’ दिखा नहीं सकते।

63. ज्ञान0निब0, पृ0 446 में उद्धृत।
64. ज्ञान0निब0, पृ0 416, पंक्ति 1-4; आशय यह है कि "बाह्य और तद्ग्राही ज्ञान की भाँति उन की ग्राहिका स्मृति भी पूर्वापरयुक्त होती है। कारण का अन्वेषण करने पर जब हम यह पाते हैं कि प्रमाणरहित होने पर भी वह (=कारणनियम) स्वीकार कर लिया जाता है, तो ऐसी स्थिति में विचित्र, प्रपंचात्मक, कार्यकारणात्मक जगत् की सांवृतिक सत्यता माननी चाहिए।"
65. 'धातु' अनेकार्थक होती है, इस तथ्य के आधार पर, 'भू' धातु का 'प्राप्ति' भी अर्थ होता है, इस लिए 'अनुभूयते' का अर्थ 'अनुगम्यते' अथवा 'उपगम्यते' होगा, यह इंगित कर ज्ञानश्रीमित्र श्लोक के आशय को स्पष्ट कर रहे हैं। इसी परिच्छेद में अगले पृष्ठ (=पृ0 448) में वे धर्मकीर्ति की प्रत्यक्ष परिच्छेद की 221वीं कारिका की प्रथम पंक्ति को 'यद् यथा भासते ज्ञानं तत्तथैवोपगम्यते' के रूप में उद्धृत भी करते हैं।
66. पृ0 447, पंक्ति 18 में 'नाम संभावनायाम्' और पृ0 448, पंक्ति 15 में 'नामेत्यङ्गीकारे' ऐसा ज्ञानश्री स्वयं लिखते हैं।
67. ज्ञान में ही 'एकभावता' की संभावना शक्य है, जड़ में यह (=सर्वदा एक भाव में रहने की बात' अर्थात् अव्ययता) संभव नहीं है। इसी को 'एतच्च न जड़स्य' के द्वारा यहाँ कहा जा रहा है।
68. इस तथ्य को आचार्य ज्ञानश्रीमित्र ने 'साकारसंग्रहसूत्रम्' के चतुर्थ अध्याय में कारिका संख्या 139-143, पृ0 569-70 में अभिव्यक्त किया है और आचार्य रत्नकीर्ति ने भी अपने 'चित्राद्वैतप्रकाशवादः' नामक निबन्ध (=रत्नकीर्तिनिबन्धावलि के अन्तर्गत), पृ. 141 में इन्हें उद्धृत किया है। 'चित्र का आभास 'एकत्व' पर ही आकार ठहरता है' इस तथ्य की सिद्धि को, आचार्य रत्नकीर्ति ने 'क्षणभंगसिद्धि' विषयक अनुमान का स्मरण दिलाते हुए, बड़ी कसी हुई भाषा में पृ0 130 पर इस प्रकार प्रस्तुत किया है— "यथा प्रसिद्धानुमाने सत्त्वं क्षणिकत्वेन व्याप्तं क्रमाक्रमकारित्वेनापि, क्षणिकत्वाभावाच्च क्रमाक्रमनिवृत्तौ निवर्तमानं क्षणिकत्वे नियतं सिध्यति, तथात्रापि प्रकाशमानत्वं साधनमेकत्वेनापि स्थौल्येनापि, एकत्वाभावाच्च विपक्षात् परमाणुपुञ्जात्मन एकत्वनिवृत्तिमात्रात्मनश्च स्वविरुद्धोपलम्भात् स्थौल्यस्य व्यापकस्य निवृत्तौ निवर्तमानमेकत्वं नियतं सिध्यति। ततश्च यथा बहिव्याप्तिपक्षे घटे दृष्टान्तधर्मिणि विपर्ययबाधकप्रमाणबलात् सत्त्वं क्षणिकत्वनियतमवधार्य सत्त्वात् पक्षे क्षणभंगसिद्धिः तथात्रापि नीलाकारे दृष्टान्तधर्मिणि विपर्ययबाधकप्रमाणबलादेव प्रकाशमानत्वमेकत्वनियतमवगम्य प्रकाशमानत्वाद् विचित्राकारचक्रे साध्यधर्मिन्येकत्वसिद्धिरिति...."। इस के पूर्व आचार्य रत्नकीर्ति चित्रविज्ञान के एकत्व के लिए, पृ.129 पर 'स्वभावहेतुपूर्वक' अनुमान प्रस्तुत कर चुके हैं। रत्नकीर्ति के 'चित्राद्वैतप्रकाशवादः' नामक निबन्ध के हिन्दी रूप के लिए देखें—"उन्मीलन" पत्रिका, पृ0121-152; वर्ष 2015, अंक 2।

- 68a. ज्ञान० निब०, पृ० 447, पं० 22 में 'भेदाभेदाव्यवस्था' के स्थान पर 'भेदाभेदव्यवस्था' पाठ होना चाहिये।
69. विज्ञान बाह्य अर्थ से नितान्त भिन्न होता है, अतः बाह्यार्थ से यहाँ तात्पर्य जड़ से है। इन दोनों में अन्य भिन्नताओं के साथ सत्ता का भी भेद है, अर्थात् बाह्यार्थ की शक्तिलक्षणसत्ता होती है। इस से यह भी इंगित होता है कि विज्ञान की, बाह्यार्थ से भिन्न अर्थात्, प्रतिभासलक्षणसत्ता हमें मान्य है। इस की विवेचना आचार्य ने पृ० 399-405 में किया है: देखें-ज्ञान० निब०, द्वितीय संस्करण, पटना प्रकाशन।
70. विस्तार के लिए देखें 'साकारसिद्धिशास्त्रम्' का तृतीय परिच्छेद, ज्ञान० निब०, पृ० 420-425। आचार्य रत्नकीर्ति ने ज्ञानश्री द्वारा विस्तार से विवेचित विवरण का सार 'रत्नकीर्तिनिबन्धावलि' के अन्तर्गत 'चित्राद्वैतप्रकाशवादः' नामक अपने निबन्ध, पृ० 130, पंक्ति 7-16 में प्रस्तुत किया है। रत्नकीर्ति के इस स्थल के हिन्दी रूप के लिए द्रष्टव्य है- 'उन्मीलन' पत्रिका, पृ० 122 की अंतिम पाँच पंक्तियाँ और पृ० 123 का पहला पैराग्राफ। वर्ष 2015, अंक 2।
71. 'अश्वारूढ़वाला दोष नहीं है' - 'अश्व पर आरूढ़ होने पर भी अश्व को न मानने का दोष' 'अश्वारूढ़वत्दोष' कहलाता है। 'वह यहाँ नहीं है' से आचार्य का इस प्रसंग में यह अभिप्राय है कि चूँकि नील-पीतादि में अभेद है (= "सहोपलम्भनियमादभेदो नीलपीतयोः", ज्ञान० निब०, पृ० 569 : 'साकारसंग्रहसूत्रम्', चतुर्थ परिच्छेद, कारिका 131), अतः नील-पीतादि अनेकों को चित्रप्रतिभास में स्वीकार करते हुए भी अनेक को न मानने का दोष हमारे मत में नहीं है, क्योंकि नील, पीतादि अनेक नहीं, अपितु उन में अभेद है।
72. यहाँ ज्ञानश्री ने बाह्यार्थ की संरचना और उस के बने रहने तथा उस के ग्रहण होने की 'विज्ञान' से भिन्नता को प्रदर्शित किया है। इस प्रकार पृ० 448 (=टिप्पणी 69) में कही गयी बात को अन्य क्षेत्रों में प्रदर्शित कर उन्होंने ने संवित्तत्त्व की विलक्षणता को पुष्ट किया है।
73. अणुसंघात के रूप में ज्ञात बाह्यवस्तु में भेद होने पर तथा अण्वाकार का उल्लेख न होने पर भी एकघनस्थूलाकारज्ञान के साथ लेश मात्र ही संवाद होने पर बाह्यवस्तु के अस्तित्व तथा उस के स्वरूप के बने रहने की बात मान ली जाती है, किन्तु बुद्धि अविभागस्वरूप वाली है, अतः बाह्यपरामर्श से उस की स्थिति को स्वीकार करने पर उस में भी भेद होगा जिस से उस का स्वभावभ्रंश होना निश्चित ही है। इसी तथ्य को प्र० वा० 2/220 की द्वितीय पंक्ति में कहा गया है।
74. प्र.वा. 2/220 की द्वितीय पंक्ति का उत्तरार्द्ध
75. बुद्धि अजडरूपता और स्वसंवेदनता की व्यंजक है। शांतरक्षित लिखते भी हैं- "विज्ञानं जडरूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते। इदमेवात्मसंवित्तिरस्य याऽजडरूपता"।। तत्त्वसंग्रह 1999।

76. ज्ञानश्री यह आग्रह कर रहे हैं कि 'नाम' शब्द यह निश्चित कराने के लिए आचार्य धर्मकीर्ति ने प्र०वा० 2/221 वी कारिका की द्वितीय पंक्ति में लिखा है कि यह सूचित हो सके कि जड़ में विज्ञान की क्षमताओं का अभाव होता है।
77. 'न त्वेतादृशमशक्यविवेचनत्वं पराभिमतस्येति" ज्ञान०निब०, पृ० 450। यहाँ आये 'पराभिमतस्य' शब्द का दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता है— (i) 'पर' अर्थात् अन्य (= विज्ञान से अन्य), अर्थात् बाह्य जड़पदार्थ। इस दृष्टि से उद्धृत वाक्यांश का संदर्भानुसार अर्थ होगा— "विज्ञान से भिन्न रूप में, अर्थात् अनेक और बाह्य जड़पदार्थ के रूप में, मान्य नील-पीतादि का इस प्रकार का अशक्यविवेचनत्व नहीं होता।"
- (ii) दूसरा अर्थ 'पराभिमतस्य' शब्द का इस प्रकार है— 'पर' अर्थात् 'स्व' से भिन्न 'परसंतान' के साथ। अतः इस दृष्टि से वाक्यांश का अर्थ होगा— 'अन्य या भिन्नसंतान के साथ होने वाली बुद्धि का/में अशक्यविवेचनत्व अभिमत नहीं है, अपितु ज्ञान की स्वसंतानभावी' चित्रता में अशक्यविवेचनता होती है।
78. ज्ञानश्री इंगित कर रहे हैं कि निराकारज्ञानवाद में ज्ञान वस्तु के अधीन होता है, किन्तु साकारविज्ञानवाद का ज्ञान स्व-तन्त्र होता है। बाह्यार्थवादियों में उपर्युक्त स्वातन्त्र्य का अभाव है और हमारे मत में उस का भाव। इस से व्यापकानुपलम्भ की असिद्धि के साथ साकारविज्ञान के एकत्व की उपपन्नता प्रदर्शित होती है।
79. "निरंशमेकमनेकं च समुच्चितं तदेव"। इस वाक्य खण्ड के अनुवाद पर आशंका संभव है। अतः लिखे गये अनुवाद पर स्पष्टीकरण आवश्यक है। विज्ञानवादियों में धर्मकीर्ति-प्रज्ञाकर-ज्ञानश्रीमित्र का साकारविज्ञानवाद चित्रैकत्व अथवा चित्राद्वैत सिद्धान्त का पक्षधर है। ये तीनों दार्शनिक विज्ञान को अविभाग रूप, अखण्डलक और निरंशक मानते हैं, साथ ही अनेकत्व का खण्डन करते हैं। यह सत्य है कि प्रज्ञाकर और ज्ञानश्री 'एक' और 'अनेक' दोनों विशेषणों की तात्त्विक दृष्टि से व्यावृत्ति करते हैं, फलतः उन के मत को 'चित्राद्वैत' कहा जाता है। दूसरी बात यह है कि इसी पृष्ठ पर आगे ज्ञानश्री लिखते हैं— "न चाभ्यां क्वचिदुपलम्भगोचरो निरंशः। ततः तत्समुच्चयरूपं अनेकमपि नोपलम्भः।" आशय यह है कि 'कहीं' पर भी इन दोनों (=इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनुमान) के द्वारा निरंश उपलम्भगोचर नहीं होता। अतः उस का (=निरंश का) समुच्चय रूप अनेक भी उपलब्ध नहीं होता। आगे पृष्ठ 451 (पंक्ति 16-18) में भी ज्ञानश्री लिखते हैं— "किं पुनस्तदेकतालक्षणम्, यतो नोक्तोपालम्भसंभवः? विवेच्याशक्यदर्शनत्वं, तत्तु न बाह्यस्य। तदभावात् तत्संहतिरूपमनेकमपि नास्ति।" स्पष्ट है कि अनेक की वस्तुतः सत्ता नहीं है। अनेक निरंश का अर्थात् बाह्य परमाणु का संहति रूप है अथवा निरंश का समुच्चित रूप है। इसी आलोक में अनुवाद किया गया है।
80. देखें, टिप्पणी 4 में आचार्य चन्द्रकीर्ति का उद्धृत वाक्य।

81. आचार्य ज्ञानश्रीमित्र, 'साकारसंग्रहसूत्रम्' चतुर्थ अध्याय, श्लोक 193 में भी इस की चर्चा करते हैं। आचार्य रत्नकीर्ति ने भी 'चित्राद्वैतप्रकाशवादः' नामक अपने निबन्ध, पृ० 144 में ज्ञानश्रीमित्र के श्लोक को उद्धृत किया है। श्लोक इस प्रकार है—
 "यस्य चैकतरत्वाभ्यां सत्त्वव्याप्तिः स हन्यताम्। अभ्रान्तवित्तिमात्रेण सत्तावादी तु जित्वरः"।।
- ज्ञान. निब. और रत्न. निब. में समान पाठ है; तथापि 'साकारसिद्धिशास्त्रम्' में 'चित्राद्वैतः' नामक चतुर्थ परिच्छेद के पृ. 450 में ज्ञानश्री लिख रहे हैं—
 'यस्यचैकानेकत्वाभ्यां वस्तुव्याप्तिरभिमतः तस्यायमस्तुदण्डः। यस्य तु प्रकाशमात्रेण वस्तुता तस्य कस्तदनुरोधः।' इस पंक्ति के आलोक में श्लोक में आये 'चैकतरत्वाभ्यां' के स्थान पर 'चैकैतरत्वाभ्यां' पाठ क्या समीचीन नहीं होगा?
82. व्याप्ति की सिद्धि बौद्धन्याय में द्विविध है— (1) अन्वयात्मिका, (2) व्यतिरेकात्मिका। व्यतिरेकतः किसी व्याप्ति वाक्य को सिद्ध करने के लिए विपर्ययबाधकप्रमाण का प्रयोग होता है और यह विपर्ययबाधकप्रमाण व्यापकानुपलम्भस्वरूप वाला होता है.....
 "व्यापकानुपलम्भात्मना विपर्यये बाधकप्रमाणेन....." रत्न.निब., पृ. 88, पंक्ति 11।
 विपर्ययबाधकप्रमाण का शाब्दिक अर्थ है "किसी अनुमानप्रयोग में अभीष्ट स्वपक्ष के विपर्ययपक्ष का बाधक (=असिद्ध करने वाला) प्रमाण। विपर्ययपक्ष के बाधित हो जाने से स्वपक्ष की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि दोनों में व्याघात्मक सम्बन्ध होता है। दोनों परस्पर परिहारलक्षण वाले होते हैं और उन में एक की सत्यता से दूसरे की असत्यता तथा एक की असत्यता से दूसरे की सत्यता स्थापित होती है, जैसे क्षणिक और अक्षणिक पद।
83. आचार्य ज्ञानश्री यहाँ यह इंगित कर रहे हैं कि माध्यमिक एक और अनेक द्वारा अनुमानाकार बना कर वस्तु की सत्ता के सिद्ध होने की बात कर सकते हैं। जैसे—
 "यद् एकं अनेकं वा तद् वस्तु, यथा परमाणुः।"
 इस अनुमान के द्वारा यदि सामान्यतया वस्तु की सत्ता सिद्ध हो जाय, तो माध्यमिकों के अभीष्ट (=साध्य) अर्थात् 'सर्वशून्यता' का अभाव सिद्ध हो जायेगा। परिणामस्वरूप उक्त अनुमान का घटक हेतु साध्याभाव का साधक होने से विरुद्धहेत्वाभास का कारक होगा।
 यदि विरुद्धहेत्वाभास से बचने के लिए माध्यमिक यह कहें कि उक्त हेतु सामान्यतया भी वस्तुत्व की सत्ता का आक्षेप नहीं करता, तो उस हेतु की स्थिति बिना साध्य की होगी, फलतः हेतु व्याभिचारी हो जायेगा।
84. 'नीलादिश्चित्रविज्ञाने ज्ञानोपाधिरनन्यभाक्। अशक्यदर्शनस्तं हि पतत्यर्थं विवेचयन्'।। प्र.वा० 2/220।
 यहाँ ज्ञानश्री ने ऊपर के श्लोक में आये 'अनन्यभाक्' शब्द के आधार पर विवेचना की है।
85. ज्ञान.निब., पृ. 439 में उद्धृत।

86. प्रत्यक्ष अभेदग्राही है, क्योंकि वह मेय या तत्त्व का साक्षात्कार करता है। इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय 'स्वलक्षण' होता है और स्वसंवेदन का विषय ज्ञान होता है। ज्ञान या बुद्धि अविभागस्वरूप वाली होती है— "अविभागोऽपिबुद्ध्यात्मा....." धर्मकीर्ति कहते भी हैं। स्वसंवेदन तो अद्वैतरूप होने से अविभागरूप होता ही है। ऊपर आचार्य सिद्ध ही कर चुके हैं कि प्रत्यक्ष भेद का ग्रहण नहीं करता।
- यहाँ भी ध्यान में रखना चाहिए कि 'चित्राद्वैत' प्रत्यक्षसिद्धान्त भी है। चूँकि विज्ञान अविभागस्वरूप वाला होता है, अतः उस का साक्षात्कारी स्वसंवेदनप्रत्यक्ष भी अविभागरूप ही होगा। इस को (=विज्ञान को) ग्राह्य, ग्राहक और संवित्ति में विभक्त नहीं किया जा सकता। अतः ऐसे विज्ञान का ग्राही प्रत्यक्ष अभेदग्राही ही होगा।
87. आप का, 'चित्रज्ञान की एकरूपता की असिद्धि का', जो प्रयोजन है उस की सिद्धि नहीं होगी और जिस अनेकता के लिए आप का आग्रह है वह अनेकता ही बाधित होगी।
88. 'एक—एक से सनाथित चित्राद्वैतरूप विज्ञानधर्मी का व्यापकानुपलम्भ कभी संभव नहीं' यह बताना ज्ञानश्री का आकूत है।
89. विरोधी द्वारा कहे गये या कहे जा सकने वाले वाक्य का यहाँ आशय यह है कि 'चूँकि 'एक' और 'अनेक' सापेक्षिक पद हैं, अतः जब 'अनेक' का निषेध आप साकारविज्ञानवादी कर रहे हैं, तो 'एक' का भी निषेध करिए। उसे चित्रज्ञान के प्रसंग में क्यों 'एकभाव' के रूप में मान रहे हैं? अतः दोनों का अवस्तुत्व है, फलतः 'एक' भी नहीं है।
90. माध्यमिकों द्वारा साकार विज्ञानवादियों पर अन्य दो आरोप हैं— (1). 'एक' मानने पर वेदान्त के 'एकत्ववाद' और (2). 'एक' और 'अनेक' दोनों मानने पर स्यादवाद की स्थिति के उत्पन्न होने का दोष। साथ ही माध्यमिक 'स्वसंवेदनसिद्धान्त' को वेदान्त का सिद्धान्त मानकर विज्ञानवादियों पर आरोप लगा रहे हैं कि उन्होंने वेदान्त के इस सिद्धान्त का हठात् आयात कर लिया है।
- यहाँ हमारा ध्यान हठात् इस रुचिकर तथ्य की ओर आकर्षित हो जाता है कि आचार्य शंकर पर भी, वेदान्त के अद्वैतेतर सम्प्रदाय के आचार्यों, पौराणिकों तथा आस्तिक यथार्थवादियों द्वारा 'मायावाद' को लेकर, 'प्रच्छन्नबौद्ध' होने का आरोप लगाया गया था। उपर्युक्त दोनों ही आरोपों में 'न्यायगंधाभाव' और 'परमततिरस्कार' ही अधिक है जो दार्शनिक चिंतन के लिए न तो समीचीन है और न अनुष्ठेय ही।
91. 'अनभीष्ट' कहकर सभी दार्शनिक समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता, इस बात की ओर आशंका के द्वारा संकेत किया जा रहा है।
92. ज्ञान० निब०, पृ०453, पं०27 में 'संवेदनेनास्तीति' के स्थान पर 'सेवेदने नास्तीति' पाठ वांछनीय है।
93. प्रायः सभी जैनैतर दर्शनसम्प्रदायों के आचार्य स्यादवाद, विशेषतः स्यादवाद अथवा सप्तभंगीनय के तृतीय नय—'अस्ति च नास्ति च'— की यह आलोचना करते हैं कि

यहाँ 'अस्ति' और 'नास्ति' जैसे दो विपर्ययात्मक नयों को 'एक नय' मानने का जघन्य तार्किक अपराध किया गया है। इस के फलस्वरूप जैनदर्शन के प्रति अमर्यादित टिप्पणियाँ भी की गयीं। वास्तविकता यह है कि 'सप्तभंगीनय' के तृतीयनय में जिस दृष्टि से 'अस्ति' का विधान किया जाता है उसी दृष्टि से 'नास्ति' का विधान नहीं किया जाता। स्यादवादमंजरीकार लिखते हैं— "न हि वयं येनैव प्रकारेण सत्त्वं तेनैव चासत्त्वं, येनैवासत्त्वं तेनैव सत्त्वमभ्युपेयः। स्वरूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैस्सत्त्वं पररूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैस्त्वसत्त्वं। तदा क्व वा विरोधावकाशः।" पृ० 176-7. ए०बी० ध्रुव संस्करण।

ज्ञानश्रीमित्र भी जैनमत के लिए 'उभयवाद' और 'निर्लज्जों का सिद्धान्त' जैसे विशेषणों का प्रयोग करते हैं, तथापि यहाँ (=इस पैराग्राफ में) उनकी टिप्पणी में एक श्लाघनीय तथ्य यह है कि वे यह मान रहे हैं कि 'भेदाभेद अथवा बाह्यत्व-आन्तरत्व को एकान्ततः न मानने के कारण जैनमत 'उभयवाद' के दोषों से बच सकता है।

94. पृ० 454 पंक्ति 24 में 'चेतसि नाम स्यान्नजाते' के स्थान पर 'चेतसि नाम स्यान्नजायते' पाठ प्रसंगानुसार उपयुक्त होगा। यहाँ ज्ञानश्री द्वारा किये गये अन्वय को एकसाथ रखकर अनुवाद किया गया है।
95. परंपरागत मान्यतानुसार नील, पीतादि में विरोध होते हुए भी प्रत्यक्षगत अविरोध का होना भी चित्रविज्ञान (=विविधाकार विज्ञान) का 'एकभाव' है। इस से ज्ञानश्रीमित्र यह इंगित कर रहे हैं कि विज्ञान में आकारात्मक विरोध होते हुए भी वस्तुतः अथवा 'स्व'—रूपतः अविरोध होता है, क्योंकि 'स्वसंवेदन' सभी विज्ञानों का स्वभाव है जिस में सभी विरोध समाप्त हो जाते हैं।
96. भगवान् बुद्ध के चार वैशारद्य हैं। उत्तरतन्त्र 3/8 में कहा गया है—
"सर्वधर्माभिसम्बोधे विबन्धप्रतिषेधने।
मार्गाख्याने निरोधाप्तौ वैशारद्ये चतुर्विधम्॥
97. भगवान् बुद्ध के 32 शारीरिक लक्षण भी होते हैं। विस्तारपूर्वक विवेचन के लिए, देखें— "अभिसमयालंकारवृत्तिस्फुटार्था" : भोट-भारती ग्रन्थमाला, 2। प्रकाशक—
'केन्द्रीय तिब्बती उच्च शोध संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, 1977।
संस्कृतरूपान्तरकार और संपादक, प्रो० राम शंकर त्रिपाठी।
32 लक्षणों के लिए ऊपर कहे गये ग्रन्थ के 8वें अध्याय के 85-87 श्लोक द्रष्टव्य हैं।
- 97a. ज्ञान० निब०, पृ० 455, पं० 6-7, द्वितीय संस्करण, में 'नीलपीतयोः प्रतिभासङ्करात्' पाठ है जो कि अशुद्ध है। इसके स्थान पर शुद्धपाठ 'नीलपीतयोः प्रतिभासासंकरात्' होगा, जैसा कि ज्ञान० निब०, प्रथम संस्करण, पृ० 455, पं० 5-6 में दिया गया है।
98. 'व्याडि' महाशय प्राचीन वैयाकरण हैं जिन्हें 'व्याकरणसंग्रहकार' माना जाता है। इन का समय पाणिनी के बाद और महाभाष्यकार (ईसा की दूसरी शती) के पूर्व का है, क्योंकि भाष्यकार ने इन का नामोल्लेख किया है।

99. 'इयता' शब्द से यह इंगित किया जा रहा है कि 'ऊपर पूर्वपक्ष में जो कुछ भी कहा गया है यदि मात्र उतने से भेद को भी कहा जाता है, तो हमारे पक्ष को कोई क्षति नहीं होगी'।
100. 'अयोगव्यवच्छेद' का शाब्दिक अर्थ है 'असंगति की व्यावृत्ति'। संदर्भानुसार अनेक की व्यावृत्ति के द्वारा चित्रज्ञान के एकत्व को सिद्ध करने को यहाँ 'अयोगव्यवच्छेद' कहा जा रहा है।
101. आशय यह है कि 'एकत्व' को स्वीकार कर लेने पर नीलतंत्र के हेतु से नील की और पीततंत्र के हेतु से पीत की उत्पत्ति होगी।
102. न द्वितीयावलम्बनम्' का शाब्दिक अर्थ प्रसंगानुसार यह है कि परस्पर विरोधी दो पक्षों में किसी एक के द्वारा दूसरे का अवलम्बन नहीं लिया जाता।
103. बाह्यार्थ को मानने पर अनेकत्व, पृथक्त्व और भेद को मानना पड़ेगा, अन्यथा उन के स्वतन्त्र अस्तित्व तथा विशेष अर्थक्रियाकारित्व की स्थिति असंभव होगी। अतः बाह्यार्थवाद मानने पर बहुत्ववाद अपरिहार्य है। इस का यह भी अर्थ है कि बाह्यार्थवाद एकत्ववाद का विरोधी है। विज्ञानवाद के लिए तो बाह्यार्थवाद विपरीत स्थिति है। इसी कारण आचार्य ज्ञानश्री घेतावनी के स्वर में टिप्पणी कर रहे हैं कि बाह्य की इच्छा करने वाले एकत्ववादी को बाह्यार्थ को मानने पर होने वाली कठिनाइयों से अवगत करा कर, बाह्यार्थ को मानने से निगृहीत करना चाहिए। 'साकारसंग्रहसूत्रम्' के 'चित्राद्वैतनिर्णयः' नामक चतुर्थ परिच्छेद की पृ.सं. 569, कारिका संख्या 131-137 में ज्ञानश्री उपर्युक्त तथ्य का स्फुट रूप में प्रतिपादन करते हैं। प्रस्तुत संदर्भ से संबद्ध कारिकायें उद्धृत की जा रही हैं—

‘सहोपलम्भनियमादभेदो नीलपीतयोः।

स्वभावो हि तयोः संविदभिन्नेति भिदा कुतः। 131।।

संवित्तिनियमो नास्ति भिन्नयोर्नीलपीतयोः।

इत्थमर्थं पतेत् पुंस्यामेकैकस्यापि दर्शनात्।। 132

बाह्यवन्न हि बोधेऽपि पुंसोरेकैक दर्शनम्।

यतोऽन्यथापि ग्रहणान्नियमस्य पराहतिः।। 135।।

भासते यद्यदेकं तद् यथा चित्रे सिताकृतिः।

भासते चाखिलं चित्रं पीतशीतसुखादिकम्।। 136।।

एकाभिमतबोद्धारम्भपेक्षेदमुदीरितम्।

नानैकान्तिकता तस्मात् सन्तानान्तरभासिना।। 137।।

‘सहोपलम्भनियम के कारण, नील और पीत में अभेद है, इन दोनों का संवित् (=ज्ञान) ही स्वभाव है, अतः वे अभिन्न हैं। उन में भेद कैसे होगा?’ “यदि कोई कहे कि नील और पीत दो हैं, और भिन्न हैं, तो ज्ञान से इस का (=भेद का) निर्धारण नहीं होगा। ‘यह नील है’, ‘यह पीत है’ इस प्रकार से एक-एक को (पृथक्-पृथक् रूप से, न कि एक अखिल चित्र के रूप में) देखने के कारण वे दोनों पुरुष अर्थ में ही गिरेंगे।” “जैसे बाह्य (अर्थ) के प्रसंग में पुरुषों को एक-एक का (पृथक्-पृथक् रूप से) दर्शन

होता है वैसी स्थिति ज्ञान के भी प्रसंग में नहीं है, क्योंकि (हमें चित्रज्ञान का एक-एक के पृथक्-पृथक् रूप से) अन्यथा रूप में (=एक चित्र के रूप में) भी ग्रहण होता है। इस से नील-पीत का एक-एक के रूप में दर्शन होने के नियम का पराभव प्राप्त होता है या सिद्ध होता है।" (उपर्युक्त तथ्यों के कारण यह फलित होता है कि) जो-जो भी भासित होता है वह एक है, जैसे चित्राकारचक्र के मध्य में नीलाकार। अतः पीत-नील और सुखादि आकार वाले अखिल चित्र का हमें प्रतिभास या ज्ञान होता है।" ऊपर जो कुछ कहा गया है वह एक संतान में होने वाली प्रज्ञप्ति के गोचर चित्त की अपेक्षा से कहा गया है। अतः अन्य चित्तसंतान में जो भासित हो रहा है उस के द्वारा अनेकान्तिकता की सिद्धि नहीं होती।"

104. ज्ञान०नि०, पृ० 456, पंक्ति 20— "एतेनाभेदेन प्रत्यक्षप्रतिक्षेपः प्रयुक्तः" वाक्यांश में 'प्रयुक्तः' के स्थान पर 'प्रत्युक्तः' पाठ समीचीन होगा।

105. अवधि— जिस के सापेक्ष विभाग हो उसे 'अवधि' कहा जाता है। उदाहरणार्थ— यदि नील के सापेक्ष 'पीत' को भिन्न कहा जाता है, तो 'नील' अवधि हुआ और पीत 'अवधिमान' हुआ।

106. जो नितान्त असत् होता है वह चूँकि अपेक्षार्ह नहीं होता, अतः उस की अपेक्षा से भेदस्थिति की बात नहीं हो सकती।

ज्ञान० निब०, पृ० 457, पं० 16 में 'कस्यचिद्भेदस्थितिः' के स्थान 'कस्यचिद्भेदस्थितिः' पाठ वांछनीय है।

107. प्रथमार्थ अवधिमान और पंचम्यर्थ अवधि चूँकि दोनों ही अभावरूप हैं, अतः दोनों समान हैं। इसी कारण 'प्रथमा और पंचमी का एक ही अर्थ होगा' ऐसा कहा गया है।

108. तात्पर्य यह है कि साकारविज्ञानवाद में हम भावाभाव के भेदग्रहण की बात कर सकते हैं, बशर्तें वे अप्रतिभासमान होने पर भी वस्तुता का अतिक्रमण न करें, क्योंकि वे परस्पर विलगता की स्थिति में अनुपलम्बमान नहीं होते।।

109. यह श्लोक आचार्य ज्ञानश्रीमित्र का है। श्लोक के अनन्तर आचार्य ने 'इति संग्रहः' ऐसा लिखा है जिस से इस संभावना के लिए अवश्य ही अवकाश है कि परंपरा से आ रहे श्लोक का आचार्य ने संग्रह किया है। किन्तु आचार्य ज्ञानश्रीमित्र के शिष्य और उन के साथ ही विक्रमशिला विश्वविद्यालय में रहने वाले आचार्य रत्नकीर्ति— "यदाहुर्गुरुवः" लिखने के अनन्तर इस श्लोक को उद्धृत करते हैं। यदि परंपरा से चला आ रहा यह श्लोक होता, तो उन्हें भी यह ज्ञात होता और वे इस श्लोक को उद्धृत करने के अनन्तर 'संग्रहश्लोकः' ऐसा कुछ लिखते, जैसा वे ऐसे प्रसंगों में करते हैं।

पुनश्च, ऊपर टिप्पणी 103 में जिस सहोपलम्भनियम की बात की गयी है उसी की ओर यहाँ भी संकेत किया जा रहा है। 'सहोपलम्भनियमादभेदो'.... नामक कारिका मूलतः धर्मकीर्तिकृत 'प्रमाणविनिश्चय' के प्रत्यक्ष नामक प्रथम परिच्छेद की 54 वी कारिका है। पूरी कारिका इस प्रकार है :

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्वियोः ।

अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति । 11/54

द्रष्टव्य Dharmakirti's Pramaviniscaya's Chapter 1 and 2. Published by –
China Tibetology Research Center : Austrian Academy of Sciences, Beijing,
Vienna, 2007

110. प्रत्यक्ष द्वारा प्रतिभासी का ही अखण्डलक साक्षात्कार होता है। जब अवधि का प्रतिभास ही नहीं होता, तो तत्सम्बद्ध अवधिमान का भी प्रतिभास नहीं होगा। ऐसी स्थिति में दोनों का प्रतिभास न होने पर उन दोनों के भेद का ग्रहण भी प्रत्यक्ष द्वारा नहीं होगा। अतः प्रत्यक्ष भेदग्राही नहीं होता।

111. ऊपर की विवेचना से जो बात फलित होती है उस का आशय यह है कि प्रतिभास अवधिनिरपेक्ष ईक्षण है जिस में ज्ञान के स्वरूप मात्र का प्रतिभास अथवा संवेदन होता है। यही ज्ञान अथवा विज्ञान का स्वसंवेदनप्रत्यक्ष है और इसी कारण साकार विज्ञानवादी विज्ञान की स्वस्वभावता की बात करते हैं।

ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि के द्वितीय संस्करण (का०प्र०जा०रि०३०, पटना प्रकाशन) के पृ० 459, पं० 12 में 'तस्मात् यथान्यसंकीर्णरूपभासनमेव भेदप्रतिभास उच्यते' पाठ है और अनुवाद भी इसी के आधार पर किया गया है, क्योंकि यहाँ ज्ञानश्री का 'भेदप्रतिभास' के विषय में जो पक्ष है उस की बात कही जा रही है। क्योंकि भेदप्रतिभास अवधिसापेक्ष होता है और अवधिज्ञान अवधिमान के संदर्भ से नियत होता है, अतः भेदप्रतिभास अन्य (अवधिमान) के ज्ञान से संकीर्ण (मिश्रित, मिला हुआ या संयुक्त) होता है। इसी अर्थ में पाठ में 'संकीर्ण' पद की सार्थकता बतायी जा सकती है।

किन्तु यह भी द्रष्टव्य है कि 'ज्ञान. निब., (पटना प्रकाशन) के ही प्रथम संस्करण के पृ०संख्या 459, पं०12 में 'तस्मात् यथान्यासंकीर्णरूपभासनमेव भेदप्रतिभास उच्यते' पाठ है और 'साकारसंग्रहसूत्रम्' के पृ०570, कारिका 151 में भी 'परासंकीर्णरूप...' पाठ है जो 'अन्यासंकीर्ण' का ही पर्याय है। किन्तु यही पर कारिका 152 में 'अन्यसंकीर्ण....' पाठ है। वस्तुतः 'साकारसिद्धिशास्त्रम्' के 'चित्राद्वैतः' नामक चतुर्थ परिच्छेद के उपर्युक्त स्थल पर 'असंकीर्ण' पाठ तब शुद्ध माना जायगा यदि उस पंक्ति को उन बाह्यार्थवादियों के मत का सूचक माना जाय जो प्रत्यक्ष को भेदग्राही मानते हैं, जैसे 'न्याय' और इस विषय में उन के समर्थक दार्शनिक मत, प्रत्यक्ष को अभेदग्राही मानने वाले चित्राद्वैतवादियों के मत में नहीं।

112. चूँकि अवधि का ज्ञान न तो अवधिमान के प्रतिभास से होता है और न तो अवधिमानेतर के व्यामिश्रण से, अतः यथार्थवाद और प्रत्ययवाद दोनों में ही भेदप्रतीति न होने पर भी भेदग्रहव्यवस्था स्वीकृत है। अतः परमाणु के रूप का उल्लेख न होने पर भी बौद्धों द्वारा भेदग्रहव्यवस्था मानने में कोई दोष नहीं है।

ऐसा है, तथापि चित्रप्रतिभास में नील-पीतादि में भेद की सिद्धि के सारे साधनों के निरस्त हो जाने से नील-पीत में, चित्रप्रतिभास में स्वसंवेदन द्वारा अभेद के सिद्ध होने से चित्राद्वैत की सिद्धि होती है और यह भी प्रमाणित हो जाता है कि स्वरसवाही अभ्यास ही बाह्यव्यवहार को उपस्थापित करता है, ऐसा आचार्य आगे सिद्ध करेंगे।

113. देखें, पाद टिप्पणी 86 और 1.11। साथ ही, देखें मूल, ज्ञान० निब०, पृ० 456 का अंतिम श्लोक और पृ० 457 का हिन्दी अनुवाद।

114. विरुद्धधर्माध्यास-साकार विज्ञानवादियों में यह शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है, अपने शाब्दिक अर्थ में नहीं। आचार्य रत्नकीर्ति लिखते भी हैं- “देशकालाकारभेदो हि विरुद्धधर्माध्यासः”, रत्न० निब०, पृ० 130, पंक्ति 4; अर्थात्, ‘देश, काल और आकार का भेद ही विरुद्धधर्माध्यास है’।

115. पीतधर्मतापन्न प्रतिभास पीत में और नीलधर्मतापन्न प्रतिभास नील में नियत होता है, यह तात्पर्य है।

ऊपर की पंक्तियों का यहाँ सुगमता की दृष्टि से भावार्थ लिखा गया है, शब्दशः अनुवाद नहीं किया गया है।

116. द्रष्टव्य प्र० वा० भाष्य, पृ० 290 पंक्ति 14। का० प्र० जा० रि० इ० प्रकाशन, पटना।

117. ज्ञान० निब०, पृ० 461, पंक्ति 21, 22, “यद्येवं न वा न वा स्वसंवेदनमिति” वक्यांश भी किसी टीका का ही अंश है, परन्तु स्रोत ज्ञात नहीं है।

118. प्र० वा० भाष्य, पृ० 290, पंक्ति 13-14।

119. ज्ञानश्रीमित्र यहाँ पर (=पृष्ठ 462, पंक्ति 13-15 में) प्रज्ञाकराचार्य का जो वाक्य उद्धृत कर रहे हैं उस का ‘प्रमाणवार्तिकभाष्य’ में रूप इस प्रकार है- “अथ प्रतिभासमानं कथमेकत्वानेकविकल्पनादेव न भवति। विकल्पमानमपि तत् प्रतिभासत एव। मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवदसत्त्वेऽपि न दोषः। तेषामप्यविद्यमानत्वे कथम्प्रतिभासः। प्रतिभासश्चेत् कथमविद्यमानता।” प्र० वा० भाष्य, पृ० 286, पंक्ति 27-29। प्र० वा०, प्रत्यक्षपरिच्छेद 210 वी कारिका पर भाष्य। अर्थात् ‘प्रतिभासमान पदार्थ की सत्ता एकत्व और अनेकत्व विकल्प के रूप में क्यों नहीं मानी जाती? एकत्व और अनेकत्व कल्पना युक्त हैं तो भी उन का प्रतिभास तो होता ही है। माया और मरीचि के प्रतिभास की तरह उन का असत्त्व होने पर भी दोष नहीं है। उन की भी अविद्यमानता यदि है, तो उन का प्रतिभास कैसे होता है? यदि उन का प्रतिभास होता है, तो उन की अविद्यमानता कैसे होगी?’

120. ‘प्रमाणवार्तिकभाष्य’ पर ‘यामारि’ तथा ‘जयानन्त’ द्वारा पृथक् रूप में लिखी गयी दो टीकायें थीं। किन्तु अब दोनों में से कोई टीका अपने मूलरूप में संस्कृत में उपलब्ध नहीं। अतः यह निर्धारित कर पाना संभव नहीं कि आचार्य ज्ञानश्रीमित्र यहाँ किस टीका की बात कर रहे हैं। दोनों टीकाओं का तिब्बती भाषा में रूपान्तर अवश्य प्राप्त है।

121. "उपलम्भः सत्ता इति न्यायात्" ज्ञान. निब. पृ. 462, पं. 15। "उपलम्भः सत्ता" यह विज्ञानवादियों का प्रसिद्ध सिद्धान्तवाक्य है। आचार्य प्रज्ञाकर अपने प्र. वा. भाष्य में इस सिद्धान्तवाक्य को अनेकशः उद्धृत करते हैं। कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं—
 "उपलम्भेन यल्लक्ष्यम्पारमार्थिकमेव तत्। सत्तोपलम्भ एवेति भावानाम्पारमार्थिकी।।"
 पृ. 213, अलंकारश्लोक, 230। "न हि स्वरूपोपलभ्यमानतामनासाद्य भावाः सत्तामात्मसात्कुर्वन्ति"— पृ. 213, पं. 23। "तत् उपलम्भः सत्तोच्यते" पृ. 214, पं. 21।
 "तस्मादुपलम्भमानतैव सत्ता", वही, पं. 23। "तस्मादुपलब्धिः सत्तेति" वही, पं. 25।
122. ज्ञान. निब., पृ. 463, प्रथम श्लोक।
123. ज्ञान. निब., पृ. 463, अंतिम श्लोक। ज्ञानश्रीमित्ररचित 'साकारसंग्रहसूत्रम्' के चतुर्थ अध्याय, पृ. 554 में भी यह श्लोक आया है और आचार्य रत्नकीर्ति ने अपने 'चित्राद्वैतप्रकाशवादः' नामक निबन्ध (=रत्न. निब., पृ. 139 प्रथम श्लोक) में इसे उद्धृत किया है। एक छोटा-सा पाठान्तर रत्नकीर्ति द्वारा उद्धृत श्लोक में यह है कि श्लोक की तृतीय पंक्ति में 'विचारलीलालुलिते' के स्थान पर 'विचारलीलाललिते' पाठ है।
124. वही, पृ. 464 में उद्धृत। यह श्लोक आचार्य मैत्रेयनाथकृत है। आचार्य रत्नकीर्ति इस श्लोक को उद्धृत करने के पूर्व लिखते हैं— "तथा आर्यमैत्रेयनाथपादा अपि"—
 द्रष्टव्य, रत्न. निब., पृ. 139, पं. 5।
125. विधूतकल्पनाजालगंभीरोदारमूर्तये।
 नमः समन्तभद्राय समन्तस्फरणत्विषे"।। प्र० वा० मंगलाचरणश्लोक।
126. देखें, 'अभिसमयालंकारवृत्तिस्फुटार्था', अध्याय 8, श्लोक 87-89। केन्द्रीय तिब्बती उच्च शोध संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, 1977 प्रकाशन।

पुस्तक-समीक्षा

बौद्ध प्रमाण दर्शन : प्रमाणशास्त्रीय सिद्धान्तों का अधिप्रामाण्य विश्लेषण*

दिग्विजय मिश्र

भारतीय प्रमाणशास्त्र को उसके नेपथ्य में जाकर देखने वाली इस पुस्तक का प्रथम संस्करण सन् 2007 में विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर (मध्य प्रदेश) से प्रकाशित हुआ था तथा इसका संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण सन् 2016 में डी.के. प्रिन्टवर्ल्ड, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक के संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण के आमुख में स्वयं प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा ने कहा है कि, “मुझे आशंका थी; इसे (इस पुस्तक को) प्रचलित अर्थ में बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की पुस्तक न समझ ली जाए! परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इसे प्रमाणों की दार्शनिक विवेचनापरक ग्रन्थ के रूप में ही संज्ञान में लिया गया।” इसकी समीक्षा पूर्व में दो विद्वानों द्वारा की जा चुकी है, जिसमें प्रथम, स्व. प्रो. नारायणशास्त्री द्रविड़ (उन्मीलन वर्ष 29, अंक 2, जुलाई 2007) ने इस पुस्तक की सराहना करते हुए, इसे एक अनूठी कृति बताया है तथा द्वितीय, प्रो. प्रदीप पी. गोखले (जे.आई.सी.पी.आर. अंक 25, नवम्बर 3, 2008) ने भी पुस्तक की सराहना की है और पुस्तक के अनधिगत कार्य अर्थात् ‘मेटा-एपिस्टेमोलॉजिकल व्याख्या’ पद्धति की ओर हमारा ध्यान भी आकृष्ट कराया है।

पुस्तक के पुरोवाक् में यशदेव शल्य इसकी विशिष्टता बताते हुए कहते हैं कि इसमें सम्पूर्ण भारतीय प्रमाणशास्त्रीय चिन्तन को परिप्रेक्ष्य बनाकर उसे आकालित करते हुए प्रमाण-विषयक बौद्ध दृष्टि के अन्तरार्थ को जैसी मौलिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है, वह शास्त्रसम्मत और शास्त्रसम्पोषक दोनों हैं। पुनः, डॉ. शर्मा के विचार का विषय मुख्यतः तार्किक

उन्मीलन-वर्ष 33, अंक 1, जनवरी-जून, 2019 ISSN-0974-0053

*बौद्ध प्रमाण दर्शन, अम्बिकादत्त शर्मा, डी.के. प्रिन्टवर्ल्ड, नई दिल्ली, संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण 2016, मूल्य : 800/-

प्रश्न न होकर दार्शनिक प्रश्न रहे हैं जो उनके प्रतिपादन में आद्यन्त रूप से परिलक्षित होते हैं। यही कारण है कि इस पुस्तक में प्रमाण—प्रमेय सम्बन्ध पर और प्रमाण—प्रमेय के स्वरूप पर मुख्य रूप से विचार हुआ है और इस प्रकार “प्रत्यक्ष” ही उनका मुख्य विषय रहा है, अनुमान, शब्द, अर्थापत्ति आदि से जुड़े तार्किक प्रश्न अवान्तरतः ही उनके विचार के विषय बने हैं।

यशदेव शल्य के कथानुसार, सामान्यतः ज्ञान को चेतना का सहज और मूल धर्म कहा जाता है। द्रष्टव्य है कि अधिकांश भारतीय दार्शनिक “चेतना” के बजाय “आत्मा” शब्द का प्रयोग करते हैं और ज्ञान को आत्मा का मूल और नित्य धर्म कहते हैं। किन्तु, पुरोवाक्कर्ता के अनुसार, यह ज्ञान और आत्मा दोनों की भ्रान्त समझ का द्योतक है। वास्तव में चेतना का मूल धर्म संवेद है और ज्ञान—वृत्ति उसमें कुछ विकसित स्तर पर प्रकट होती है और क्रमशः अस्फुट से स्फुट और स्फुटतर रूप में विकसित होती है। वानस्पतिक चेतना से आधुनिक चेतना के विकास के इस इतिहास में ज्ञान की दृष्टि से तीन आधारभूत क्रान्तियाँ घटित हुई देखी जा सकती हैं। प्रथम क्रान्ति, जीवन के आविर्भाव के साथ चेतना में संवेदनशीलता के आविर्भाव के रूप में वानस्पतिक जीवन के उद्भव के साथ घटित होती है। द्वितीय क्रान्ति, ऐन्द्रिक जीवों के उद्भव के साथ घटित होती है। इसे चेतना का जगद्भाव में उन्मीलन और विषयोन्मुखता में प्रवर्तन कहा जा सकता है और तृतीय क्रान्ति, चेतना के आत्मचेतन होने के रूप में घटित होती है। इस तरह मानवीय ज्ञान के अनेक आयाम हैं और उन आयामों के अनुसार अनेक प्रमेय और उनके प्रमाण हैं। दार्शनिकों ने प्रमाण—विचार में अधिकांशतः ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों और उनके विषयों को ही विषय बनाया है। औचित्यानौचित्य को प्रमाण—चिन्तन में उस तरह सम्मिलित नहीं किया गया, जबकि इसे भी प्रमाणमीमांसा के एक विशिष्ट आयाम के रूप में विकसित किया जाना चाहिए।

लेखक ने पुस्तक के पहले अध्याय में विषय का परिचय कराते हुए भारतीय दार्शनों की तंत्रबद्धता और प्रतितन्त्र के प्रति सहिष्णुता को उसकी विशेषता बतायी है। इस कारण भारतीय दर्शन की विकासमानता ऊपर से दिखाई नहीं पड़ती और कुछ लोग इसे स्थावर हो गई परम्परा मान बैठते हैं। किन्तु, वास्तविकता यह है कि सूत्र, भाष्य, वार्तिक, टीका एवं प्रकरणादि ग्रन्थों के माध्यम से भारतीय परम्परा में व्याख्याओं, पुनर्व्याख्याओं, यहाँ तक कि वैकल्पिक दृष्टियों के विकास की अन्तर्धारा युक्तिमत रूप से अनवरत

वर्द्धमान रही है। ब्राह्मण और बौद्ध विचारधारा के मध्य एक हजार से अधिक वर्षों का वैचारिक संघर्ष इसका ज्वलंत उदाहरण है। सत्-विषयक दो भिन्न प्रकार की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि (प्रो. टी.आर.वी.मूर्ति के मतानुसार, ब्राह्मण परम्परा की तत्त्वमीमांसीय आत्मवादी दृष्टि सत्ता को कूटस्थ प्रतिमान के रूप में निरूपित करती है एवं बौद्ध परम्परा की तत्त्वमीमांसीय अनात्मवादी दृष्टि सत्ता के क्षणिक प्रतिमान को स्वीकार करती है। पुनः, प्रो. विश्वम्भर पाही ने वैदिक परम्परा और बौद्ध परम्परा की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि को नित्यवादी एवं सन्तानवादी रूप से निरूपित किया है।) का प्रतिनिधित्व करती हुई दोनों परम्पराएँ आरम्भ से ही न केवल एक-दूसरे के विरोध में पनपती रहीं बल्कि परस्पर एक-दूसरे को विकास एवं परिष्कार की नई-नई प्रेरणाएँ भी प्रदान की हैं। लेखक के अनुसार, नागार्जुन से प्रारम्भ हुए इस वाद-विवाद का अन्त कई स्तरों से गुजरते हुए रत्नकीर्ति के "उदयन निराकरणम्" नामक ग्रंथ में होता है। नैयायिकों के पक्ष से "उदयन निराकरणम्" का प्रत्युत्तर दिया जाना अभी शेष है और इस तरह परस्पर संवाद की यह प्रक्रिया इस बिन्दु पर आकर स्थगितप्राय हो गई है। लेखक ने इस पूरे वाद-प्रतिवाद के इतिहास का विशद विवरण इसी अध्याय में प्रस्तुत करने के बाद कहा है कि आज यदि इस रूकी हुई संवाद-परम्परा को फिर से आगे बढ़ाना है तो नैयायिकों से ही यह अपेक्षा की जाती है कि वे आगे आएँ और "उदयन निराकरणम्" का निराकरण करते हुए बौद्धों के समक्ष एक नई चुनौती को उपस्थापित करें।

इस सम्पूर्ण वाद-प्रतिवाद के उपरान्त लेखक ने हमारा ध्यान मुख्य रूप से नागार्जुन और दिङ्नाग की ओर आकृष्ट कराया है। नागार्जुन की चर्चा करते हुए वे बताते हैं कि नागार्जुन की मौलिकता इस बात में निहित है कि उसकी शैली सर्वसंहारक है। वह दृष्टिमात्र की परीक्षा करता है और सभी दृष्टियों अथवा सिद्धान्तों के ऐतिहासिक रूप या उनके तार्किक अवधारण के समक्ष संशोधन का प्रस्ताव नहीं करता, बल्कि उन्हें सर्वतोभावेन निरस्त ही करता है। इसकी वजह से नागार्जुन का दर्शन एक ऐसे दर्शन के रूप में सामने आता है, जो निन्दित अधिक हुआ और थोड़ा ही सम्मानित। इसके बावजूद भी नागार्जुन के दर्शन की कुछ महत्त्वपूर्ण बातें हैं। प्रथम, नागार्जुनोत्तर काल में विवर्तवादी दार्शनिक प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला है। इसे योगाचार के विज्ञानाद्वैत, वैयाकरणों के शब्दाद्वैत और अद्वैतवेदान्त के

ब्रह्माद्वैत के विकास में देखा जा सकता है। द्वितीय, नागार्जुन की खण्डनात्मक शैली से प्रेरणा पाकर परवर्ती काल में दो प्रकार की वैतण्डिक पद्धतियों का जन्म हुआ, जिसके पुरस्कर्ता जयरशि भट्ट और श्रीहर्ष माने जा सकते हैं तथा तृतीय, और लेखक के अनुसार, सबसे महत्वपूर्ण यह कि नागार्जुनोत्तर काल में प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के क्षेत्र में आमूल पुनः रचना की आवश्यकता महसूस की गई, क्योंकि “प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः” की सर्वतन्त्र स्वतन्त्र समझी जाने वाली प्रमाणमीमांसा का नागार्जुन के द्वारा विग्रहव्यावर्तनी और वैदल्यसूत्र में जिस तरह से खण्डन किया गया है उससे प्रमाणमीमांसा पर आगे विचार करने से सारे रास्ते एक तरह से अवरुद्ध हो गए थे। नागार्जुनोत्तर काल में प्रमाणमीमांसा के पुनरोद्धार का प्रश्न भारतीय दर्शन के इतिहास में एक अत्यन्त अहम् प्रश्न है।

लेखक के अनुसार, दिङ्नाग वह पहला व्यक्ति था जिसने बौद्धसम्मत प्रमाणमीमांसा की परिच्छेदित रूपरेखा बनाई और उसे अन्यव्यावृत्त स्वायत्तता में स्थापित करने का प्रयास किया। दिङ्नाग ने “तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा” को अपना स्वयुध्य पक्ष बनाया और उसे अनात्मवाद तथा क्षणिकवाद की भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। ऐसा करते हुए दिङ्नागीय प्रमाणमीमांसा एक ओर नैयायिकों के “मानाधीनामेयसिद्धि” के विरोध में खड़ा होता है तो दूसरी ओर नागार्जुन द्वारा “मानाधीनामेयसिद्धिः” के चर्तुर्दिक खण्डन का उचित विकल्प प्रस्तुत करता है। यहाँ अवधेय है कि विग्रहव्यावर्तनी में नागार्जुन ने “प्रमाण से प्रमेयसिद्धि” का खण्डन तो स्वतन्त्र रूप से किया है लेकिन “प्रमेय से प्रमाणाद्धि” का खण्डन उन्होंने स्वतंत्र रूप से न करके “प्रमाण से प्रमेयसिद्धि” के खण्डन को ही पुष्ट करने के लिए किया है।

इस अध्याय के अन्त में लेखक ने बताया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में “प्रमाण दर्शन” पद का प्रयोग अधिप्रमाणमीमांसीय विश्लेषण पद्धति (वस्तुतः किसी प्रमाणमीमांसा का विश्लेषण और तुलना के द्वारा उसे उसकी तत्त्वमीमांसा में खोलना एक प्रमाणदार्शनिक क्रिया है, जिसका पद्धतिमूलक पक्ष अधिप्रमाणमीमांसीय विश्लेषण होता है।) के अर्थ में ही किया है। इस अभिगम का अनुप्रयोग करते हुए लेखक ने बौद्ध प्रमाणशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों को केन्द्रीय सन्दर्भ बनाया है और आद्यन्त रूप से यह दिखने का प्रयास किया है कि भारतीय प्रमाणमीमांसाय चिन्तन किस प्रकार लोकानुभव

का समादर करते हुए "तत्त्वमीमांसा" को विरासत भाव से अनुगृहीत किए रहती है। वस्तुतः "बौद्ध प्रमाण दर्शन" नामधेय इस कृति का अवधारणात्मक एवं पद्धतिमूलक मूल्य भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के ऐसे ही मूलगामी अन्तरार्थों के उद्घाटन में निहित है।

दूसरे अध्याय "तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा का उपोद्घात" में लेखक ने अध्याय के प्रारम्भ में ही बताया है कि भारतीय दर्शन में, विशेषकर अस्तिक परम्परा में सभी दर्शन ये स्वीकार करते हैं कि प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों से होती है। अत्यन्त साधारण दृष्टि से कहा जा सकता है कि ज्ञान के दृष्टि से "प्रमाण" प्रथम और "प्रमेय" तदन्तर है तथा सत्ता की दृष्टि से "प्रमेय" प्रथम और 'प्रमाण' तदन्तरभावी होते हैं। भारतीय दर्शन का प्रमाणमीमांसीय पक्ष वाकोवाक्यम्, वादविधि, आन्वीक्षिकी विद्या, हेतु विद्या के रूप में जैसे-जैसे विकसित होता गया वैसे-वैसे उस पर तत्त्वमीमांसीय अधिभार बढ़ता ही गया। किन्तु, इसके विपरीत कुछ लोगों का यह मानना है कि भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन का इतिहास तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता से मुक्त होने की दशा में विकासोन्मुख रहा है, जो लेखक को उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि, लेखक के अनुसार भारतीय दर्शन की विशिष्टता के साथ तभी न्याय किया जा सकता है जब उसके तत्त्वमीमांसीय, प्रमाणमीमांसीय एवं पुरुषार्थमीमांसीय पक्षों की व्याख्या एक आन्तरिक सम्बद्धता और परस्पर सामंजस्य के रूप में किया जाए। इसके लिए आवश्यक है कि प्रमाणमीमांसीय दृष्टि में तत्त्वमीमांसा को विरासत भाव से गृहीत किया जाए। के.सी. भट्टाचार्य ने ठीक ही कहा है कि "तर्कशास्त्र अथवा प्रमाणमीमांसा के माध्यम से तत्त्वमीमांसा अपने को परिभाषित करती है।" ध्यातव्य है कि सांख्य दर्शन से लेकर नव्यन्याय पर्यन्त "प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः" के प्रति एक आम सहमति बनी रही। लेकिन, इस बीच अन्दर ही अन्दर इस अभ्युपगम पर बढ़ते हुए तत्त्वमीमांसीय अधिभार की न तो समीक्षा की गई और न ही व्यक्त रूप में इस बात को स्वीकार किया गया कि प्रमाणशास्त्र का उद्दिष्ट लक्ष्य स्वयूथ्य की तत्त्वमीमांसा का संरक्षण करना है।

साधारणतया प्रमाणों की परिभाषा यथार्थ ज्ञान (प्रमा) के साधन के रूप में की जाती है। इसे "ज्ञान के सत्यापन में सहायक ज्ञान" इस प्रकार भी परिभाषित किया जा सकता है। बौद्ध परम्परा में ठीक इसके विपरीत "प्रमेयकार्यं प्रमाणम्" (धर्मोत्तर, न्यायबिन्दु टीका 2.48) के रूप में एक

अप्रचलित परिभाषा का सन्दर्भ प्राप्त होता है। लेखक के अनुसार, हम यहाँ पूछ सकते हैं कि उन साक्ष्यों अथवा प्रमाणों का स्वरूप क्या है जो हमारे अभिकथनों अथवा निर्णयों को सही या गलत ठहराते हैं तथा यदि हमें यथार्थ ज्ञान का कोई निकष उपलब्ध भी हो जाता है, तो पुनः, हम पूछ सकते हैं कि वे कौन और कैसे प्रमाण हैं जो इसके अनुरूप यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि कराते हैं? यथार्थ ज्ञान प्रमाण—पूर्ववर्ती ही होना चाहिए। क्योंकि, इसी रूप में वह प्रमाणों के प्रकार और उनके प्रमाणत्व का निर्धारक हो सकता है। अतएव कहा जा सकता है कि यदि यथार्थता ऐसी है तो उसके अनुरूप “यह” ज्ञान यथार्थ ज्ञान होगा और यदि “यह” ज्ञान यथार्थ है तो उसकी प्राप्ति जिन साधनों से होगी उसे ही प्रमाण की कोटि में सम्मिलित किया जाना सम्भव होगा।

एक दृष्टि से कोई यह कह सकता है कि भारतीय परम्परा के अन्तर्गत न्याय दर्शन मूलतः यद्यपि एक प्रमेयशास्त्र है लेकिन इस दर्शन की प्रमाणमीमांसा पूरे तौर से प्रमेय—अवग्रहपूर्वक विकसित नहीं हुई है। इसलिए नैयायिकों को पहले लक्षणैकचक्षुक और बाद में प्रमाणैकचक्षुक कहा जाता है। वस्तुतः “प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिः” की मूलभूत दृष्टि के सन्दर्भ में प्रमाणमीमांसा का विकास इसी रूप में होना भी चाहिए, लेकिन इस दृष्टि की कुछ अपनिष्पत्तियाँ भी हैं। पुनः, नैयायिकों के प्रमाणचिन्तन में यह दृष्टि कितनी फलित हुई है, यह भी विचारणीय है। द्रष्टव्य है कि नैयायिकों ने प्रमाणों के प्रमेय—निरपेक्ष, अर्थात् आकारिक स्वरूप को निर्धारित करने के लिए “लक्षणमीमांसा” को आधारभूत महत्त्व प्रदान करते हुए “लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः” और “मानसिद्धिश्च लक्षणात्” के अधिगम को प्रस्तावित किया है। संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ तक प्रमेयों की सिद्धि का प्रश्न है, उसे प्रमाणपूर्वक ही होना चाहिए, लेकिन स्वयं प्रमाणों की सिद्धि प्रमाणान्तर से न होकर लक्षणपूर्वक होती है। “मानधीना मेयसिद्धिः मानसिद्धिश्च लक्षणात्”— यहाँ सिद्धि का तात्पर्य प्रमाणों के स्वरूप निर्धारण से है और वह भी ऐसा स्वरूप जो प्रमेय—निरपेक्ष अथवा वस्तु—स्थिति से तटस्थ हो। नैयायिकों की इस पहल के विरुद्ध अनेक प्रश्न खड़े किए जा सकते हैं, जैसे— प्रथम, प्रमाण अपने स्वरूप में प्रमेय—निरपेक्ष आकारिक संस्थान हैं तो ऐसे प्रमाण वास्तविक जगत् से किस प्रकार सम्बद्ध होते हैं? द्वितीय, क्या नैयायिकों को वास्तविक जगत् के दो रूप मान्य हैं— एक

वास्तविक और दूसरा तार्किक? तथा तृतीय, फिर दोनों में सम्बन्ध क्या है? न्यायदर्शन में इन प्रश्नों का उत्तर चाहे जिस प्रकार भी दिया गया हो, इतना तो स्पष्ट है कि नैयायिक लक्षण मीमांसा के द्वारा प्रमाणों के स्वरूप को एक आकारिक संस्थान में रूप में निर्धारित करने के लिए अग्रसर दिखाई पड़ते हैं।

“व्यावृत्तिव्यवहारो हि लक्षणस्य प्रयोजनम्” साधारणतया व्यावृत्ति और वाग्व्यवहार को लक्षण का प्रयोजन माने जाने पर भी लक्षणमीमांसा को प्रमाणमीमांसा के लिए तभी उपकारी बताया जा सकता है, जब इसे प्रमाण और प्रमेय से पहले प्रयुक्त किया जाए, जो सम्भव नहीं दीखता। इसीलिए जयराशिभट्ट और श्रीहर्ष ने लक्षण की संकल्पना को सर्वतोभावेन आत्माश्रय, चक्रक एवं अनवस्था आदि दोषों से युक्त बताया है। किन्तु, न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ ने इस अनिष्ट प्रसंग का समाधान करते हुए कहा है कि लक्षण की संकल्पना में आत्माश्रय, चक्रक एवं अनवस्था आदि दोषों की उद्भावना उचित नहीं है। क्योंकि, जहाँ सन्देह होता है वहीं किसी लक्षण के द्वारा लक्ष्य के स्वरूप निर्धारण की आवश्यकता होती है। प्रकृत प्रसंग में लेखक ने अत्यंत मौलिकता के साथ इस बात को उद्घाटित किया है कि लक्षणमीमांसा पर आधारित प्रमाणमीमांसा का एक तर्कशास्त्र के रूप में विकास भी तत्त्वमीमांसीय अवग्रह से मुक्त नहीं कहा जा सकता।

तीसरे अध्याय “प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि प्रत्युत प्रमाणसिद्धिः प्रमेयाद्धि” में लेखक के अनुसार, भारतीय दार्शनिक चिन्तन का एक बहुत बड़ा भाग प्रमाणमीमांसीय चिन्तन से सम्बद्ध है। प्रमाणमीमांसा के अधिकांश प्रश्न प्रमाणों के लक्षण, संख्या, विषय, फल एवं विनियोग से सम्बन्धित माने जाते हैं। भारतीय दर्शन के इतिहास में “मानाधीना मेयसिद्धिः और “मेयाधीना मानसिद्धिः” को प्रमाण-दर्शन से सम्बन्धित ऐसे दो आधारभूत प्रश्नों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जो दो भिन्न प्रकार की प्रमाणमीमांसीय संरचना को प्रस्तावित करते हैं। प्रस्तुत अध्याय में लेखक का उद्देश्य “मानाधीना मेयसिद्धिः” और “मेयाधीना मानसिद्धिः” के निर्धारक पूर्वग्रहों एवं निष्पत्तियों को विश्लेषित करते हुए यह दिखाना है कि वास्तव में प्रमाणों का कार्य क्या है? क्या प्रमाणों की भूमिका अन्वेषणात्मक है अथवा प्रमाण केवल पूर्वगृहीत तत्त्वमीमांसा का बौद्धिक निदर्शन कराते हैं? साथ ही इस मूलभूत प्रश्न की समीक्षा करते हुए लेखक ने यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि प्रमाणों से प्रमेयसिद्धि अथवा प्रमेयापादन का दावा

वैसा ही नहीं है जैसा कि समझा जाता है। प्रत्येक प्रमाणमीमांसीय चिन्तन की एक तात्त्विक पृष्ठभूमि होती है। हमारा प्रमाणमीमांसीय चिन्तन उसी पृष्ठभूमि से आरम्भ होता और अन्ततः हमें उसी में लौटना होता है।

लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि— “मानाधीना मेयसिद्धिः” का सिद्धान्त मानने वालों के लिए प्रमाण और प्रमाणफल का पार्थक्य, प्रमाणफलरूपी ज्ञेयोपलब्धि के आश्रय के रूप में नित्य आत्मा की सत्ता तथा प्रमाणसम्प्लव इत्यादि की स्वीकृति आवश्यक हो जाती है। पुनः, यदि प्रमाण साधन है तो उसके माध्यम से एक ओर प्रमा का साधन होता है तो दूसरी ओर प्रमा के विषय की सिद्धि भी होती है। ऐसी स्थिति में आत्मगत ज्ञान और विषय को जोड़ने के लिए सदैव प्रमाण की आवश्यकता होगी। साथ ही इन्द्रियों की प्राप्यकारिता (नैयायिक एवं मीमांसा) और अप्राप्यकारी (बौद्ध दर्शन) की जटिल समस्या उत्पन्न होती है। लेखक के अनुसार, “मानाधीना मेयसिद्धि” की सामान्य समीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ तक ज्ञान की उत्पत्ति का प्रश्न है वह विषय से स्वतन्त्र होता है। विषय प्रदत्त होते हैं और ज्ञान का प्रदत्त विषय से कोई तनाव नहीं होता। प्रदत्त विषय की निजरूपता को ज्ञान सकारात्मक अथवा नकारात्मक रूप से प्रभावित भी नहीं करता। हम यह नहीं कह सकते हैं कि किसी वस्तु को हम इस रूप में जानते हैं इसीलिए वस्तु ऐसी है और वस्तु—विषयक हमारा ज्ञान उसे उस रूप से निरूपित करता है। वास्तव में कहना तो यह चाहिए कि वस्तु ही ऐसी है, इसीलिए तद्विषयक हमारा ज्ञान ऐसा है। एतावता “प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि” की निष्पत्ति इस बात में होती है कि प्रत्येक प्रमाणमीमांसा के लिए एक तत्त्वमीमांसा आवश्यक है। लेकिन, प्रत्येक तत्त्वमीमांसा के लिए प्रमाणमीमांसा पूर्वापेक्षित नहीं हैं। वस्तुतः तत्त्वमीमांसीय अधिशासन के बिना कोई प्रमाणमीमांसा प्रवर्तित ही नहीं हो सकती।

अब यदि दूसरे पक्ष पर दृष्टिपात करें तो कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम “मानाधीना मेयसिद्धिः” के विपरीत “मेयाधीना मानसिद्धिः” की दार्शनिक सूझ बौद्ध नैयायिकों ने प्रस्तावित की है। दिङ्नाग के पूर्व बौद्ध दर्शन में इतिविषयक एक ऊहापोहात्मक स्थिति के संकेत मिलते हैं। विग्रहव्यावर्तनी एवं वैदल्यसूत्र में नागार्जुन ने “मानाधीना मेयसिद्धिः” के सम्भव विकल्पों का खण्डन किया है। उन्होंने अपने खण्डन में अन्य विकल्पों को उद्भावित करते हुए “मेयाधीना मानसिद्धिः” को भी

चतुष्टकोटि द्वन्द्वन्याय का ग्रास बना दिया है (विग्रहव्यावर्तनी, 39 से 51 तक)। ध्यातव्य है कि नागार्जुन की तो कोई स्वमत प्रतिज्ञा ही नहीं है। किसी भी मत में स्वगत अन्तर्विरोध दिखाना ही नागार्जुन की विचार-प्रक्रिया है। वसुबन्धु के बारे में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि उन्होंने "मानाधीनामेयसिद्धिः" और "मेयाधीनामानसिद्धिः" में से कौन सा मत स्वीकार्य किया था। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के ग्रन्थों में "मेयाधीनामानसिद्धिः" का स्पष्ट कथन नहीं मिलता है फिर भी "मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्" जैसे वचनों से "मेयाधीनामानसिद्धिः" की प्रतिस्वीकृति द्योतित होती है। इसी प्रकार "अविसम्वादी ज्ञानं प्रमाणम्" और "प्रमेयकार्यं हि प्रमाणम्" (धर्मोत्तर, न्यायविन्दु टीका, 2.48) तथा "अर्थक्रियाकारित्वं सत्" आदि प्रतिपत्तियों से बौद्ध नैयायिकों के अभिमत में "मेयाधीनामानसिद्धिः" का ही अध्याहार होता है। अनात्मवाद और क्षणभंगवाद के परिप्रेक्ष्य में भी विचार करने पर "मानाधीनामेयसिद्धिः" का त्याग ही बौद्ध प्रमाणमीमांसा के लिए श्रेयस्कर है। एतावता "प्रमेयसिद्धिः प्रामाणाद्धिः" के बदले "प्रमेयाधीना प्रमाणसिद्धिः" ही सामान्य रूप से बौद्ध नैयायिकों के अभिमत में श्रेयस्कर प्रतीत होता है।

आगे, लेखक "मानाधीना मेयसिद्धिः" के समर्थकों के सामने कुछ प्रश्न उठाते हैं कि यदि "मानाधीना मेयसिद्धिः" के पक्षधर अपनी प्रतिज्ञा के प्रति आद्यन्त रूप से ईमानदार हैं तो उनके प्रमाणमीमांसीय प्रश्नों एवं निष्कर्षों में इतना भेद क्यों हैं? क्यों नैयायिकों के लिए प्रत्यक्ष का विषय "सामान्य विशिष्ट व्यक्ति" और मीमांसकों के लिए "सामान्य और विशेष का आश्रय व्यक्ति" और वेदान्तियों के लिए "महासामान्य ब्रह्म" है? प्रमाणमीमांसा के उत्तल धरातल पर दिखने वाले ऐसे भेद वास्तव में तत्त्वमीमांसीय ही हैं और तात्त्विक पृष्ठभूमि में ही इनकी सुसंगत व्याख्या की जा सकती है।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण के आधार पर लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "मानाधीना मेयसिद्धिः" के पक्षधर अन्ततः प्रमाणों का स्वरूप निर्धारण एवं उनका विनियोग भी उसी रूप में करते हैं जैसे प्रमेय-विषयक तत्त्वमीमांसीय अवधारणा को वे पूर्वकल्पित किए रहते हैं। अतएव लेखक के अनुसार, "प्रमेयसिद्धिः प्रामाणाद्धिः" के बदले "प्रमाणसिद्धिः प्रमेयाद्धिः" को ही एक ईमानदार प्रमाणमीमांसीय प्रयास के रूप में समादृत किया जाना

चाहिए। इसी के द्वारा प्रमाणमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के मध्य अधिकाधिक संवाद की स्थापना हो सकती है। अन्त में लेखक ने भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में बौद्ध नैयायिकों की इस सूझ को एक क्रांतिकारी संशोधनात्मक पहल के रूप में स्वीकार किए जाने की बात कही है।

चौथे अध्याय “प्रमेयाश्रित प्रमाण द्वैविध्य” में लेखक बताते हैं कि प्रमाण-प्रमेय की पृथक्कृत एवं भेदपूर्ण स्थिति पर ही कोई प्रमाणमीमांसा अवलम्बित होती है। प्रमाणों को भाव-साधन और प्रमेयों को साध्यर्थ मानकर ही दोनों की पृथक्ता एवं भेदरूपता को बनाए रखा जाता है। नागार्जुन के अनुसार वस्तुतः प्रमाण से प्रमेय और प्रमेय से प्रमाण की सिद्धि होती है। फलतः दोनों की सापेक्षता की अवान्तर निष्पत्ति इस बात में होती है कि प्रमाण “प्रमेय का प्रमेय” और प्रमेय “प्रमाण का प्रमाण” हो जाता है (नागार्जुन, वैदल्यसूत्र 2)। अवधेय है कि नागार्जुनकृत प्रमाण-प्रमेय परीक्षा का ऐतिहासिक पूर्वपक्ष नैयायिकों की प्रमाणमीमांसा रही है जिसकी मूलभूत मान्यता “प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितः” है। नागार्जुन ने इसका खण्डन चारों तरफ से घेरकर किया है। इसलिए बौद्ध नैयायिक “मेयाधीनामानसिद्धिः” को ही मूलभूत मान्यता बनाकर अपनी प्रमाणमीमांसा को खड़ा करने का प्रयास करते हैं। क्योंकि, नागार्जुन के चक्रव्यूह से निकलने का सर्वाधिक सुरक्षित मार्ग भी यही हो सकता है।

लेखक के अनुसार, भारतीय परम्परा में प्रमाणशास्त्रीय चिन्तन को नई दिशा में विकसित करने का सम्पूर्ण श्रेय आचार्य दिङ्नाग को जाता है। उन्होंने अपने प्रमाण समुच्चय में “तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा” को प्रस्तावित करते हुए बताया है कि सिद्ध प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाणों के दो ही प्रकार हैं—प्रथम, प्रत्यक्ष तथा द्वितीय, अनुमान। इसके अतिरिक्त अन्य किसी को स्वतंत्र प्रमाण का दर्जा प्रदान नहीं किया जा सकता (दिङ्नाग, प्रमाणसमुच्चय 1.2)। प्रत्यक्ष और अनुमानजन्य ज्ञान अर्थ से अव्यभिचरित होने के कारण क्रमशः अज्ञातार्थ-प्रकाशक और अविश्ववादी होते हैं। धर्मकीर्ति ने सामान्य अनुभव में आसन्न द्वैराश्य को विश्लेषित कर प्रमेय द्वित्व और प्रमाण द्वित्व को पुष्ट करते हैं। मानदण्ड अपनी प्रकृति में हमारे अनुभव के सम्पूर्ण क्षेप “अस्ति-भाति” को व्याप्त करते हैं।

आगे, लेखक ने प्रज्ञाकर गुप्त (प्रमाणवार्त्तिकालंकारभाष्य) की सहायता से यह दिखाने का प्रयास किया है कि क्यों दो प्रमाण ही स्वीकार

किए जाएँ ? एक या तीन प्रमाण क्यों नहीं ? इसके उत्तर में बताते हैं कि यदि प्रमेय-द्वित्व की प्रतिपत्ति किसी तीसरे प्रमाण से मानी जाए तो विरोध उपस्थित होगा तथा तृतीय प्रमाण को सम्मिलित करने मात्र से बौद्ध नैयायिक अन्योन्याश्रयता और तृतीय प्रमेय की प्रसक्ति से बच नहीं सकते। ऐसा स्वीकार करने से उनके स्वमत की हानि होगी। अतः प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की परस्पर व्यावर्तक विषयता को स्वीकार करने में ही लाघव है तथा ग्राह्य एवं अध्यवसेय विषय की दृष्टि से भी दो ही प्रमाणों का विधान यथोचित है।

अन्ततः यदि प्रमाण-निरपेक्ष प्रेमय-द्वैविध्य की समस्या पर और भी मूलगामी दृष्टि से विचार किया जाए तो इसकी व्याख्या बुद्धोपदिष्ट अन्तर्दृष्टि के रूप में की जा सकती है। बुद्ध की सम्पूर्ण शिक्षाएँ परमार्थ और संवृत्ति-सत् के भेद पर आधारित हैं (नागार्जुन, माध्यमिककारिका 24.8, द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना। लोकसंवृत्ति सत्यं च सत्यं च परमार्थतः।)। तथागत की सर्वज्ञता में सत्यद्वय का यह भेद युगपद् रूप से प्रकाशित होता है जो सामान्यजन के लिए लब्ध नहीं है। बौद्ध परम्परा में यह तथागत की तत्त्वमीमांसीय आवश्यकता के रूप में व्याख्येय है (प्रो. ए.के. चटर्जी, योगाचार आइडियलिज्म, पृ. 223-224)। बौद्ध नैयायिक भगवान् बुद्ध को परम प्रमाणभूत स्वीकार करते हुए तथागत की इस भूमिका को सुरक्षित रखते हैं। इस प्रकार एक ही परमार्थसत् का स्वरूपेण ग्रहण एवं पररूपेण अध्यवास पूर्वक स्वसामान्य-लक्षणात्मक विषय द्वैविध्य और उसी के अनुरोध से प्रत्यक्ष-परोक्षात्मक प्रमाण-द्वैविध्य ही बौद्ध नैयायिकों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है तथा यदि बौद्ध नैयायिक "व्यावर्तक द्वैराश्यभेद" की अवधारणा का प्रेमय-द्वैविध्य को प्रमाण-निरपेक्ष रूप से आपादित करने का प्रयास करते हैं तो उनका यह प्रयास लेखक की दृष्टि में अपनी अधितार्किक तात्त्विक पूर्वमान्यता को व्यावहारिक एवं विश्लेषणात्मक बुद्धि से निष्पादित करने का महत्त्वपूर्ण उपाय कौशल है।

पाँचवें अध्याय "प्रमाण-सम्प्लव एवं प्रमाण व्यवस्था" में लेखक भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के ऐतिहासिक विकास को पाँच प्रस्थानों में विभक्त करने की बात करते हैं। प्रथम प्रस्थान, महर्षि गौतम का है, जो तत्त्व की अपेक्षा प्रमाणों को प्राथमिकता प्रदान करते हुए एक रचनात्मक प्रमाणमीमांसीय ढाँचे को प्रतिपादित करता है। महर्षि गौतम

सम्मत "मानाधीनामेयसिद्धिः मानसिद्धिश्च लक्षणात्" नामक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कहे जाने वाले अभ्युपगम के विरोध में नागार्जुन, श्रीहर्ष और जयराशिभट्ट प्रणीत तीन खण्डनात्मक प्रस्थान विकसित हुए हैं। अन्तिम प्रस्थान तर्कपुंगव दिङ्नाग का है, जो संशोधनात्मक रूप में तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा के एक पुनर्रचनात्मक ढाँचे को प्रस्तावित करता है। भारतीय दर्शन में प्रमाण-सम्लव और प्रमाण-व्यवस्था का विवाद मुख्य रूप से प्रमाण-विनियोग की अवधारणा से सम्बन्धित है। प्रमाण-विनियोग की अवधारणा सुनिश्चित करने के लिए प्रमाणों के आपसी सम्बन्ध-विषयक कुछ प्रश्नों का विचार करना आवश्यक है। यथा-प्रथम, क्या प्रमाण एक-दूसरे के क्षेत्र में क्रियाशील हो सकते हैं? द्वितीय, क्या प्रमाणों के परस्पर सहयोग से ही विषय की सम्यक् उपलब्धि सम्भव होती है? तृतीय, क्या एक प्रकार के विषय को दूसरे प्रमाण के द्वारा समान रूप से जाना जा सकता है? इन्हीं प्रश्नों की पृष्ठभूमि में बौद्ध और बौद्धेतर नैयायिक दो खेमों में बँट जाते हैं। बौद्ध नैयायिकों के अनुसार कोई भी प्रमाण अपने स्वरूप का परित्याग किए बिना दूसरे के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता है। प्रमाण अपने प्रातिस्विक रूप में विशिष्ट विषयक होते हैं। बौद्ध नैयायिक प्रमाण-व्यवस्था को स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत बौद्धेतर दार्शनिक प्रमाण-व्यवस्था को अनुभव-विरोधी एक दोषपूर्ण दृष्टि मानते हैं तथा नैयायिक तो प्रमाण-व्यवस्था के स्थान पर प्रमाण-सम्लव को स्वीकार करते हैं। बौद्ध दार्शनिकों के मत में प्रमाण-व्यवस्था के अनुसार स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक द्विविध प्रमेय और तदनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान नामक द्विविध प्रमाणों को स्वीकार किया गया है (प्रमाणवार्तिक 2.1- मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्)। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण और अनुमान का विषय सामान्यलक्षण है जो क्रमशः परमार्थसत् और विकल्पसत् के रूप में एक-दूसरे को व्यावृत्त करते हैं। जबकि इससे भिन्न नैयायिक प्रमाण-सम्लव की बात करते हैं। न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन (न्यायभाष्य 1.2.3) ने प्रमाणों के सम्लव-क्रम को इस प्रकार निरूपित किया है। कोई अग्नि को आप्तोपदेश से सुनकर हेतु-दर्शन के द्वारा समझने की कोशिश करता है। हेत्वाश्रित अनुमान से समझकर उसे प्रत्यक्ष देखना चाहता है। प्रत्यक्षतः देखकर उलपद्य अर्थ में जिज्ञासा की निवृत्ति हो जाती है। प्रत्यक्ष के द्वारा जिज्ञासित अर्थ की प्राप्ति होने के कारण वह जिज्ञासा का निवृत्तिकारक होता है। ऊपरी ढाँचे में नैयायिक स्पष्ट तौर पर प्रमाण-सम्लववादी ही प्रतीत होते हैं।

परन्तु लेखक ने नैयायिकों, मीमांसकों और वेदान्तियों की प्रमाणमीमांसा में अवान्तर रूप से प्रमाण-व्यवस्था की अन्तर्निहित सम्भावनाओं को बखूबी उद्घाटित किया है।

छठवें अध्याय “प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण विमर्श” में लेखक ने भारतीय दर्शन में प्रमाणों की संख्या-विषयक विप्रतिपत्ति का इतिहास “मानसोल्लास” के एक प्रचलित श्लोक से किया है। “प्रत्यक्षमेकं चार्वाकः कणाद सुगतो पुनः। अनुमानं च तच्चापि सांख्य शब्दश्च ते उभे॥ न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केचन। अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्राभाकराः॥ अभाव षष्ठ्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा। सम्भवैतिह्य युक्तानि तानिपौराणिकाः जगुः॥ (मानसोल्लास 2.20)। तदुपरान्त बौद्ध और बौद्धतर, ऐसा दो विभाजन करते हुए बौद्धमत को स्वमत स्वीकार करके उनके प्रमाण द्वित्ववाद (प्रत्यक्ष और अनुमान) की स्थापना की है तथा अन्य शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण न मानकर, इन्हीं दोनों में शब्दादि प्रमाणों का अन्तर्भाव दिखाया है। शब्द स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। इसके लिए लेखक शान्तरक्षित का उद्धरण देते हैं। शान्तरक्षित के अनुसार, शब्द ज्ञान में त्रैरूप्य लिंग का समायोजन करते हुए पुरुष को धर्मी, विवक्षा को साध्य और पूर्वसिद्ध स्वसंतान में सम्बन्ध को अवधारित किया है (तत्त्वसंग्रह, 1520)। इससे शब्द कोई स्वतंत्र प्रमाण न होकर अनुमान में ही इसका अन्तर्भाव यथोचित है। न्याय के उपमान को प्रमाणाभास (रत्नकीर्ति निबन्धावली, पृ. 103) तथा मीमांसा सम्मत उपमान को निर्विषयक (रत्नकीर्ति निबन्धावली, पृ. 102) होने से उपमान को प्रमाण नहीं स्वीकार किया है। पुनः, लेखक ने अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में दिखाया है। अतः उसे भी स्वतंत्र प्रमाण स्वीकारना युक्तिसंगत नहीं है (रत्नकीर्ति निबन्धावली, पृ. 14)। पुनश्च, लेखक ने अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण न मानते हुए अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष विशेष का ही दूसरा नाम कहा है (रत्नकीर्ति निबन्धावली, पृ. 105)। इस प्रकार लेखक दिखाते हैं कि बौद्ध नैयायिक सम्भव सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और अनुमान में सफलतापूर्वक करते हैं।

सातवें अध्याय “प्राप्यकारित्वाप्राप्यकारित्ववाद” के प्रारम्भ में ही लेखक के अनुसार, इन्द्रियों की संख्या और उसके विषयों में न्यूनाधिक मतैक्य होते हुए भी एक प्रश्न जो सर्वाधिक विवादास्पद रहा है वह यह है कि

इन्द्रियाँ प्राप्यप्रकाशकारी होती हैं अथवा अप्राप्यप्रकाशकारी? यहाँ प्राप्यप्रकाशकारित्व का साधारण तात्पर्य यह है कि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से सम्बद्ध होकर उन-उन विषयों के ज्ञान की उपपादिका होती हैं तथा इसके विपरीत अप्राप्यप्रकाशकारित्व का तात्पर्य यह है कि ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयों से सम्बद्ध हुए बिना ही उनके ज्ञान का उपपादन करने में समर्थ होती हैं। अतः जहाँ न्याय-वैशेषिक, मीमांसक, सांख्य एवं वेदान्ती इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व को स्वीकार करते हैं। वहीं वैयाकरण एवं बौद्ध दार्शनिक इन्द्रियों के अप्राप्यकारित्व को स्वीकार करते हैं। स्वभाव के अनुरूप बीच का रास्ता अपनाते हुए जैन दार्शनिक कुछ इन्द्रियों (चक्षु) को अप्राप्यकारी तथा अधिकांश इन्द्रियों (चक्षु को छोड़कर शेष सभी) को प्राप्यकारी मानते हैं। नैयायिक सभी इन्द्रियों को प्राप्यकारी स्वीकार करते हैं तथा मीमांसक, वेदान्ती एवं सांख्य इत्यादि दर्शन किञ्चित् साम्प्रदायिक भेद के साथ न्याय दर्शन की उपस्थापना को ही सम्पुष्ट करते हैं। इसके विपरीत व्याकरण दर्शन में सभी इन्द्रियों को नियम से अप्राप्यकारी बताने का प्रयास किया गया है तथा बौद्ध दर्शन में चक्षु, श्रोत्र और मन को अप्राप्यकारी स्वीकार किया गया है।

आगे, लेखक ने प्राप्यकारित्वाप्राप्यकारित्ववाद सम्बन्धी दो पक्षों— प्रथम, इन्द्रियार्थसन्निकर्षमूलक प्राप्यकारित्ववाद और द्वितीय इन्द्रियस्वरूपयोग्यतामूलक प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व में से केवल बौद्ध दृष्टि से द्वितीय पक्ष को सम्यक् रूपेण उद्घाटित करते हुए पालि परम्परा के कई एक गाथाओं के अनुसार चक्षुः और श्रोत्रेन्द्रिय के अप्राप्यकारित्व की चर्चा पुस्तक में पृष्ठ संख्या 104-106 में की है। पुनः, लेखक ने दिङ्नाग के निम्न छः हेतुओं— सान्तरग्रहणात्, पृथुतरग्रहणात्, दिग्देशव्यपदेशात्, एककालग्रहणात्, अधिष्ठानात् बहिर्नाक्षं, पश्येदप्युन्मील्य नीमिलनात्— द्वारा चक्षुरिन्द्रिय को प्राप्यकारी सिद्ध नहीं किया जा सकता तथा उन्हीं हेतुओं को अवान्तर रूप से श्रोत्रेन्द्रिय की अप्राप्यकारिता के पक्ष में प्रस्तुत किया जा सकता है, ऐसा दिखाने का प्रयास किया है। आगे, लेखक ने बताया है कि बौद्ध दर्शन में सन्निकर्ष के बदले फस्सो अर्थात् “त्रयाणां सन्निपातः स्पर्श” की अवधारणा मान्य की गयी है, जिसकी व्याख्या उन्होंने अपने आलेख “बौद्ध दर्शन में सारूप्य की अवधारणा” (उन्मीलन, वर्ष 18 अंक 1, 2004) में की है।

आठवें अध्याय “ज्ञान की स्वयंप्रकाशता” में लेखक के अनुसार, “आत्मदीपो भवः” की आध्यात्मिक निष्ठा में अद्यतन चिन्मूलक दृष्टि की प्रधानता भारतीय दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। स्वयं-प्रकाश ज्ञान की संज्ञानात्मक भूमिका का समारम्भ इस सामान्य प्रश्न से होता है कि सम्पूर्ण जगत् ज्ञान से प्रकाशित है। ज्ञान-प्रकाश मौलिक है। यह “प्रकाशों का प्रकाश” स्वयंप्रकाश है। अज्ञात ज्ञान तो वदतोव्याघात है। इसलिए प्रत्येक ज्ञान का स्वयं ज्ञात होना या प्रत्येक चेतना का स्वचेतना होना परिनिष्ठित है। भारतीय दर्शन में इतिविषयक नैयायिकों का “अनुव्यवसायवाद”, मीमांसकों का “ज्ञाततालिंगानुमेयवाद” और “त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद”, बौद्धों का “स्वसंवेदनवाद” या “विज्ञानस्वयंप्रकाशतावाद” तथा अद्वैतवेदान्तियों का “आत्मस्वयंप्रकाशतावाद” अतिप्रसिद्ध हैं। उपरोक्त सभी सिद्धान्तों में से लेखक ने अपनी इस पुस्तक को बौद्ध अवधारणा तक ही सीमित रखा है। लेखक के अनुसार, भारतीय दर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम विज्ञानवादी बौद्धों ने स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् ज्ञान की संज्ञानात्मक भूमिका को उद्घाटित किया तथा प्रत्यक्ष-विषयक सैत्रान्तिक अवधारणा की अव्याख्येयता और माध्यमिकों द्वारा चित्तमात्रतावाद के विरुद्ध उपस्थापित “न हि चित्तं चित्तं पश्यति” (शान्तिदेव, बोधिचर्यावतार, 9.17) का विप्रतिषेध ही वह कारण है, जिसके फलस्वरूप विज्ञानवादी बौद्धों ने दृढ़ता के साथ ज्ञान की स्वयंप्रकाशता को प्रस्तावित किया। इसे बौद्ध अपनी शब्दावली में “स्वसंवेदन” या “स्वसंवित्ति” कहते हैं। इस सम्बन्ध में धर्मकीर्ति की यह गवेषणा कि “अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति” बड़ा ही प्रसिद्ध है।

लेखक का मानना है कि बौद्धों द्वारा प्रस्तावित ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति की ऐसी अवधारणा बौद्धेतर उन सभी दार्शनिकों को असह्य है जो ज्ञान को स्वयंप्रकाश मानते हैं और नहीं भी मानते हैं। क्योंकि, उनकी आलोचनाओं में दो बातें स्पष्ट रूप से देखने को मिलती हैं — प्रथम, यह कि ज्ञान सदैव वस्तुतन्त्र होने से “जानना” एक सकर्मक क्रियापद है। इसलिए ज्ञानक्रिया के कर्ता का उस क्रिया के साथ मिश्रण नहीं किया जाना चाहिए। द्वितीय, यह कि यद्यपि ज्ञान तो ज्ञात होना चाहिए, यह अनिवार्य तो नहीं लेकिन व्यवहारसम्मत तो अवश्य है, तथापि इसका तात्पर्य यह नहीं कि ज्ञान स्वसंवित् होता है। आगे, लेखक ने पूर्व पक्ष के रूप में दिखाया है कि कैसे मीमांसक, नैयायिक तथा अद्वैतवेदान्ती

स्वसंवित्ति—विषयक बौद्धाभिमत की आलोचना करते हैं। साथ ही लेखक ने स्वयं बौद्ध दार्शनिकों को उद्धृत करते हुए इन आलोचनाओं का उत्तर दिया है जो बौद्ध दर्शन के बचाव की एक सफल कोशिश हैं। इसी सन्दर्भ में लेखक श्रीहर्ष के इस कथन को महत्त्वपूर्ण बताते हैं कि यदि स्वयंप्रकाश ज्ञान को नित्य, साक्षी, सर्वात्मा, ब्रह्मस्वरूप माना जाए तो अद्वैतवेदान्त सिद्ध होता है और क्षणिक माना जाए तो क्षणिक विज्ञानवाद सिद्ध होता है (श्रीहर्ष, खण्डनखण्डखाद्यम, हिन्दी व्याख्या, श्रीहनुमान दास जी षट्शास्त्री, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 45)। अन्त में, लेखक के अनुसार, ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति का शर्त केवल इतना ही है कि उसका निरपेक्ष तात्त्विक स्वरूप विषय एवं विषयी से परे होना चाहिए। विषय एवं विषयी दोनों परस्पर सापेक्षिक हैं। अतएव इन दोनों का पूर्ण निषेध ही स्वयंप्रकाश या स्वसंवित्ति विज्ञान की स्वरूपस्थिति है।

नवें अध्याय “सारूप्य की अवधारणा” में लेखक के अनुसार, भारतीय दर्शनों के प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में प्रत्यक्ष के करणात्मक पक्ष से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। इनमें इन्द्रियार्थसन्निकर्षवाद (न्याय—वैशेषिक), सामग्रीकारणवाद (जरनैयायिक जयन्तभट्ट), ज्ञातृव्यापारवाद (मीमांसक), इन्द्रियवृत्तिवाद (सांख्य—योग), अन्तःकरणवृत्तिवाद (अद्वैतवेदान्त) एवं सारूप्यवाद (बौद्ध) इत्यादि प्रमुख हैं। ऐसे ही प्रत्यक्ष के विषय से सम्बन्धित जातिविशिष्ट व्यक्ति, सामान्य—विशेषाश्रय व्यक्ति, महासामान्य ब्रह्म एवं सर्वतोव्यावृत्त स्वलक्षण इत्यादि सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं। इस अध्याय में लेखक ने “सारूप्य” की बौद्ध अवधारणा को अपना प्रमुख विषय बनाकर प्रत्यक्ष के करण एवं विषय पक्ष के मध्य तत्त्वमीमांसीय हस्तक्षेप और समायोजन को उद्घाटित करने का प्रयास किया है।

लेखक के अनुसार, बौद्धों के ‘सारूप्यवाद’ का उद्गम इसी मूलगामी दृष्टि में है कि ज्ञान, वास्तव में, प्रकाशक नहीं अपितु प्रतिभासक होता है। क्योंकि, सभी ज्ञानात्मक स्थितियाँ अपने स्वरूप में ही आत्मचेतन हुआ करती हैं। प्रत्येक चेतना का आत्मचेतन होना अनिवार्य है (सर्व चित्तचैतानामात्मसंवेदनम्)। आगे, लेखक ने वैभाषिक दर्शन पर अपना मत रखते हुए कहा है कि— वैभाषिकों ने क्षणिकता की अवधारणा को गम्भीरता से नहीं लिया है और तदनुरूप उनकी प्रत्यक्ष की व्याख्या भी उसी

अगम्भीरता के साथ प्रस्तुत हुई है। जिसे लेखक ने सौत्रान्तिकों द्वारा वैभाषिकों के प्रत्यक्ष की व्याख्या और उससे सम्बन्धित त्रिविध निष्पत्तियों की कटु आलोचना की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराया है। पुनः, लेखक के अनुसार, धर्मकीर्ति का कहना है कि वस्तुओं में (आलम्बन प्रत्यय) ज्ञान की हेतुता और ग्राह्यता दोनों होती हैं, लेकिन इन्द्रियों में (अधिपतिप्रत्यय) रूपज्ञान की हेतुता तो होती है, पर स्वयं की ग्राह्यता नहीं। इसका कारण यह है कि वस्तुएँ बुद्धि में अपना प्रतिभास अर्थात् आकार समर्पित करती हैं, लेकिन इन्द्रियाँ ऐसा नहीं करतीं। इसलिए वस्तुओं में ज्ञान की हेतुता और तदाकार रूप से उनकी ग्राह्यता भी होती है (प्रमाणवार्तिक 2.224 और 2.370)। तदाकारता के अतिरिक्त ग्राह्यता और कुछ हो ही नहीं सकती। इसी तदाकारता को बौद्ध दर्शन में प्रतिभास, निर्भास, अर्थाभास, सादृश्य, सरूप एवं सारूप्य इत्यादि नामों से अभिहित किया गया है। इन सभी पदों से ज्ञान में एक आकार की संकल्पना को अवधारित किया गया है जो उनकी दृष्टि में ज्ञानमात्रता के लिए आवश्यक शर्त है (न्यायबिन्दु 20६२१, अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्। तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति।)।

बौद्ध नैयायिकों का मानना है कि ज्ञान की आकारयोगिता का प्रथम सम्बन्ध चेतना से है और द्वितीय सम्बन्ध भाषा से। चेतना सर्वप्रथम अपने में विषयाकार सारूप्य को ग्रहण कर विषय को प्रतिभासित करती है और तदन्तर भाषा से विकल्पित कर अपने सविकल्पक आकारों (नामजात्यादि योजना) में निरूपित अथवा अध्यवसित करती है। इस प्रकार हमें वास्तविकता के दो रूप प्राप्त होते हैं— प्रथम, प्रतिभास के धरातल पर उसका निर्विकल्पक रूप तथा द्वितीय, भाषा के आकारों के अनुविद्ध उसका सविकल्पक रूप। इसे ही बौद्ध दार्शनिक अपनी शब्दावली में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण कहते हैं। अतः लेखक के अनुसार, सारूप्यवाद अपने मूल रूप में प्रकाशवाद के समानान्तर प्रतिभासवाद है। एक बार जब हम स्वीकार कर लेते हैं कि ज्ञान प्रतिभासक होता है तो ज्ञान के आलम्बन चाहे क्षणभंगुर हों या स्थिर, अथवा वह निरालम्ब ही क्यों न हो, उसके प्रतिभासक चरित्र पर कोई अन्तर नहीं पड़ता। नीलाकार विज्ञान, वास्तव में, नील वस्तु का “सरूप” ही है। इस तरह प्रतिभासवाद का सामान्यीकरण केवल इस तथ्य को पूर्वगृहीत करता है कि प्रत्येक ज्ञानात्मक स्थिति आवश्यक रूप से आत्मसंवित् होती है।

दशवें अध्याय “क्षणमंगुर बाह्यार्थ एवं आत्मख्याति” में लेखक ने बौद्ध ख्यातिवाद सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या की है। ख्यातिवाद के वास्तविक विकास को भारतीय दर्शन में आचार्य शंकर के अध्यासभाष्य (ब्रह्मसूत्रभाष्य का उपोद्घात) से माना जा सकता है, क्योंकि पहली बार यहीं पर भ्रम की अवधारणा पर तार्किक एवं दार्शनिक दृष्टि से विवेचन उपलब्ध होते हैं, ऐसा लेखक का मानना है। इसके उपरान्त मण्डन मिश्र के विभ्रमविवेक नामक ग्रन्थ में सर्वप्रथम कुछ प्रसिद्ध “ख्यातियों” का नामकरण एवं उन पर व्यवस्थित चर्चा देखने को मिलती है (आत्मख्यातिरसत्ख्यातिर—ख्यातिः ख्यातिरन्यथा। परीक्षकाणां विभ्रान्तौ विवादात् सा विविच्यते।।—विभ्रम विवेक 1)। इन ख्यातियों की संख्या कभी पाँच तो कभी छः तो कभी आठ बतायी गयी है। किन्तु, हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा में इसकी संख्या चौदह बतायी गयी है तथा पण्डित बच्चूलाल अवस्थी ने अपनी पुस्तक “वादत्रयी” में बीस प्रकार के ख्यातियों की चर्चा की है (पं. बच्चूलाल अवस्थी ‘ज्ञान’, वादत्रयी, ख्यातिवादाविमर्शः, कालिदास अकादेमी, उज्जैन, 1996)।

ख्यातिवाद के प्रसंग में लेखक का उद्देश्य बाह्यार्थवादी बौद्धों की ख्याति-विषयक अनालोचित अवधारणा को आलोचित करना है। लेखक के अनुसार, जब बौद्ध दर्शन के वैभाषिक, सौत्रान्तिक, माध्यमिक, योगाचार एवं स्वतन्त्र विज्ञानवान इत्यादि सम्प्रदाय स्वतंत्र रूप में प्रसिद्ध हैं और बौद्धेतर दर्शनों में इनकी गणना स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में की भी जाती है तो बौद्धाभिमत में दो ही ख्यातियों की चर्चा क्यों होती है? इसमें भी माध्यमिकों की असत्ख्याति सबसे अलग है। स्वयं बौद्धों ने अपने ख्याति सिद्धान्त को न तो स्पष्टतया प्रतिपादित किया है और न ही उनका नामकरण घोषित किया है तो माध्यमिकों की असत्यख्याति को छोड़कर बौद्ध दर्शन के शेष सम्प्रदायों को आत्मख्याति के अन्तर्गत रखने का युक्ति युक्त आधार क्या है? इसका उत्तर लेखक को वाचस्पति मिश्र (भामती, अध्यासप्रकरण) से मिलता है, किन्तु लेखक उससे पूर्णरूपेण सन्तुष्ट प्रतीत नहीं होते हैं। आधुनिक आचार्यों में पं. बच्चूलाल अवस्थी (वादत्रयी) में ख्यातिवाद पर पुंखानुपुंख विचार करते हुए बाह्यार्थवादी बौद्धों (वैभाषिक, सौत्रान्तिक) के ख्याति-विचार को अन्यथाख्याति से अभिहित किया है जो लेखक के अनुसार, उचित नहीं कहा जा सकता। आगे, लेखक ने बौद्ध दर्शन के बाह्यार्थवादी सम्प्रदायों के ख्याति-विचार को पद्धति एवं प्रकार-भेद के साथ

आत्मख्याति के अन्तर्गत ही उसकी (बाह्यार्थवादी सम्प्रदायों की) व्याख्या की है। यथा—जिस प्रकार “यह नील है” की विकल्पात्मक बुद्धि होती है उसी प्रकार “यह पीत है” का भ्रम भी एक विकल्पात्मक बुद्धि है। यही बाह्यार्थवादी बौद्ध मत में प्रकार भेद से आत्मख्याति है। यदि इसे किसी दूसरे शब्द से कहना आवश्यक हो तो इसे “विकल्पख्याति” कहा जा सकता है। आत्मख्याति और विकल्पख्याति का आन्तरभेद वस्तुतः अनादिवासना और बुद्धि के विकल्पात्मक व्यापार के अवधारणात्मक भेद से व्याख्येय है। आगे, लेखक दिखाते हैं कि वस्तुक्षण के नितान्त क्षणिक होने और उसके ज्ञान के सारूप्यवादी अभ्युपगम के चलते बाह्यार्थवादी बौद्धों का ख्याति विचार “आत्मख्याति” के गोत्र से मेल रखता है। पुनः, क्षणिक बाह्यार्थ के भ्रम का सन्दर्भ नहीं होने बल्कि निमित्त होने से भी अन्यथाख्याति नहीं बनती है। इस प्रकार लेखक यह युक्ति युक्त पूर्वक दिखाते हैं कि बौद्ध परम्परा में माध्यमिकों को छोड़कर, वैभाषिक, सौत्रान्तिक एवं न्यायवादी बौद्धों की ख्याति—विषयक सम्भव संकल्पना का अन्तर्भाव लाघपूर्वक योगाचार की आत्मख्याति में किया जा सकता है। साथ ही वह यह भी बताते हैं कि यदि भामती में वाचस्पति मिश्र ने इसका संकेत किया था तो वह उचित ही था।

ग्यारहवें अध्याय “अनुमानावतार एवं सन्देहवादी पूर्वपक्ष” में लेखक बौद्ध दर्शन सम्मत अनुमान—प्रमाण की व्याख्या करते हैं तथा अनुमान—प्रमाण के प्रति तथाकथित सन्देहवादी पूर्वपक्ष की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराते हैं और साथ ही पूर्वपक्ष का निवारण युक्ति युक्त तरिके से करते हैं। सन्देहवादी पूर्वपक्षों को कमलशील (तत्त्वसंग्रह पंजिका, पृ. 426—427, सेन्ट्रल लायब्रेरी, बड़ौदा, 1926) ने कैसे प्रस्तुत किया है, लेखक इसे पाँच बिन्दुओं में दिखाते हैं तथा पूर्वपक्ष के उत्तर में प्रज्ञाकरगुप्त (प्रमाणवार्तिकालंकारभाष्य, परार्थानुमान परिच्छेद, 204), शान्तरक्षित (तत्त्वसंग्रह 14.1) तथा धर्मकीर्ति (प्रमाणवार्तिकम्, प्रत्यक्षपरिच्छेद 67—68) को उद्धृत करते हुए प्रस्तुत संदेह का समाधान सात बिन्दुओं में दिखाते हैं। जिससे ज्ञात होता है कि अनुमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में नहीं किया जा सकता है।

अनुमान—प्रमाण के सिद्धि के उपरान्त लेखक ये बताते हैं कि बौद्ध नैयायिकों की तत्त्वमीमांसीय ढाँचा नैयायिकों से बिल्कुल भिन्न है। इसलिए दोनों के अनुमान—प्रमाण की संरचना एवं व्याप्ति—स्वरूप के निश्चय में

आत्यन्तिक भेद परिलक्षित होता है। आगे, लेखक के अनुसार, बौद्ध नैयायिकों ने त्रिविध हेतुओं के अन्वय—व्यतिरेकात्मक निश्चय के पश्चात् “अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तिताऽसति” के रूप में हेतु का सिद्धान्त—लक्षण स्वीकार किया है। दिङ्नागोक्त इस लक्षण में एक और दो पदों को हटाने से किस प्रकार सप्तिका हेतु—लक्षण का ग्रहण होता है। इसे वाचस्पति मिश्र (न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका, पृ. 194—तथैकपदपर्युदासेन त्रयः पक्षाः, द्विपदपर्युदासेनऽपि त्रय इति षट्कम्। तत्पर्युदासेन सप्तिकापरिग्रहः) ने बहुत सुन्दर तरीके से उदाहरण सहित बताया है। उनके अनुसार समुदाय रूप से इस लक्षण में तीन पद प्रयुक्त हुए हैं। तीनों पदों में से एक—एक पद हटाने पर तीन पक्ष और दो—दो पद हटाने पर पुनः तीन पक्ष बनते हैं। इन छः पक्षों को, जो हेतु की षड्विध स्थितियाँ ही हैं, हटाने पर बौद्धसम्मत हेतु का सातवाँ “सिद्धान्त लक्षण” प्रकट होता है। ऐसा लेखक ने दिखाया है।

बारहवें अध्याय “अर्थाभिधान की अपोहात्मक संकल्पना” में लेखक ने बौद्ध दर्शन के अपोहवाद सिद्धान्त की विशद और गूढ़ चर्चा प्रस्तुत की है। साथ ही अपोहवाद किस प्रकार युक्ति युक्त है यह दिखाते हुए उस पर लगाये गये आक्षेपों का समाधान भी प्रस्तुत किया है। अपोहवाद शाश्वतवादी तत्त्वचिन्तन और उसके भाषा—दर्शन के विरोध में क्षणिकवादी तत्त्वदृष्टि का भाषा—दर्शन है। लेखक के अनुसार, बौद्ध नैयायिकों ने भाषा और सत् पर विचार करते हुए, भाषा को बुद्धि के विकल्पों तक ही सीमित रखा है। उनके अनुसार शब्द का अर्थ से और अर्थ का शब्द से कोई तात्त्विक निबन्धन नहीं है। हमारी बुद्धि में अर्थ का जैसा प्रतिबिम्बन होता है, शब्द उसी का ग्रहण करते हैं। यह कोई आवश्यक नहीं है कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित अर्थ किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप का प्रतिबिम्बन हो। अतएव शब्द न तो अर्थनिष्ठ हैं और न ही अर्थजात् बल्कि अर्थसंकेत का ध्वन्यात्मक प्रतीक, वक्ता के अभिप्राय मात्र का निवेदन ही शब्द है। बौद्धों के अनुसार इस निवेदन का स्वरूप ही अपोहात्मक है। यही शब्द और अर्थ के संवाद सम्बन्ध को सुनिश्चित करता है। अपोहात्मक निवेदन का तात्पर्य यह है कि शब्द अपने अर्थ को विरुद्ध के प्रतिषेधपूर्वक व्यक्त करता है। विरुद्ध का प्रतिषेध “अपोह” एक द्विवार निषेध का नियम है जिसे बौद्ध नैयायिक ज्ञानमीमांसीय आधार प्रदान करते हैं। उसे अतद्व्यावृत्ति भी कहते हैं। उदाहरणार्थ— जब

हम नील कहते हैं तो नील शब्द अ-नील की व्यावृत्तिपूर्वक नील का विधायक होता है। अतएव स्पष्ट ही है कि निर्वचनमात्र में अपोहन आवश्यक रूप से सम्मिलित रहता है।

लेखक ने बताया है कि बौद्ध चिन्तन परम्परा में सर्वप्रथम आचार्य दिङ्नाग ने अपोह सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। तदुपरान्त धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकार गुप्त, शान्तरक्षित, कमलशील, ज्ञानश्री मित्र, रत्नकीर्ति इत्यादि के द्वारा इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ है तथा वैदिक परम्परा के दार्शनिकों में कुमारिल भट्ट, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य इत्यादि के द्वारा अपोहवाद के भूरिशः खण्डन ने भी इस सिद्धान्त के विकास और परिष्कार को भरपूर प्रभावित किया है। आगे, लेखक ने अपोह-विषयक बौद्ध संकल्पना के सन्दर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण स्थलों की चर्चा की है, जो अपोहवाद की गहरी समझ के लिए आवश्यक है। यथा— प्रथम, अपोह एक प्रकार का द्वैधिकरण है। द्वितीय, अपोह एक द्विवार निषेध का नियम है तथा तृतीय, अपोह का तात्पर्य अन्यापोह विशिष्ट विधि है या अन्यापोह मात्र है। पुनः, लेखक ने अपोहवाद की पुष्टि के लिए शब्दार्थ सम्बन्धी अन्य सिद्धान्तों की समीक्षा की है। समीक्षा के लिए लेखक ने शान्तरक्षित को उद्धृत किया है। जिन्होंने तत्त्वसंग्रह में “अस्त्यर्थादीनांशब्दार्थता” करते हुए भर्तृहरि द्वारा सन्दर्भित बारह सिद्धान्तों में से छह सिद्धान्तों : अस्त्यर्थ सिद्धान्त, समुदाय सिद्धान्त, असत्यसंसर्ग और असत्योपाधि सत्य सम्बन्ध का सिद्धान्त, अभिजल्प सिद्धान्त, आरोपण सिद्धान्त को और सातवें सिद्धान्त के रूप में भर्तृहरि के प्रतिभा को पूर्वपक्ष बनाया है।

अन्त में, लेखक के अनुसार, शान्तरक्षित ने प्रतिभा सिद्धान्त की आलोचना शब्दार्थ सिद्धान्त के रूप में की है लेकिन भर्तृहरि ने प्रतिभा को वाक्यार्थ सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है। प्रमाण समुच्चय की इस कारिका —

अपोद्धारे पदस्यायं वाक्याद अर्थो विवेचितः ।

वाक्यार्थः प्रतिभाख्योयम् तेनादावुपजायते ।।

से भी स्पष्ट होता है कि दिङ्नाग ने भी वाक्यार्थ बोध के सन्दर्भ में प्रतिभा-सिद्धान्त को स्वीकार किया है। किन्तु, लेखक के अनुसार, दिङ्नाग की यह कारिका एक बहुत बड़ी समस्या को उत्पन्न करती है कि एक ओर शान्तरक्षित अपोहवाद के सन्दर्भ में प्रतिभा सिद्धान्त का खण्डन करते हैं तो

दूसरी ओर अपोहवाद के जनक दिङ्नाग अपोद्धार और प्रतिभा सिद्धान्त को उसी रूप में स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं जैसे कि भर्तृहरि ने स्वीकार किया है। अतः स्फोटवादी भर्तृहरि का प्रतिभा सिद्धान्त और अपोहवादी दिङ्नाग का प्रतिभा सिद्धान्त एक ही है या दोनों में सूक्ष्म अवधारणात्मक भेद है, यह विचारणीय हो जाता है। किन्तु, इस विषय पर पर्याप्त साक्ष्य और स्पष्ट विचार न मिलने के कारण लेखक का मानना है कि इस समस्या पर अन्तिम रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार “द्वादशाध्यायी” यह कृति हिन्दी भाषी दार्शनिक जगत् की अप्रतिम रचना है; ऐसा कथना अतिशयोक्ति नहीं होगा। विषय के सटीक उपस्थापन के क्रम में भाषा का दुरुह होना स्वभाविक है। इस रचना ने जहाँ एक ओर भारतीय दर्शन और भारतीय प्रमाणशास्त्र के अनालोचित अधिविषयों को विश्लेषित किया है वहीं दूसरी ओर भारतीय प्रमाण-चिन्तन के इन विषयों की ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया का उल्लेख किया है और साथ ही साथ एक ही समस्या पर विभिन्न दर्शन-प्रस्थानों के अभिमतों की समीक्षा भी की गई है। यह पुस्तक दर्शन जगत् को अनेक विचारणीय बिन्दु प्रदान करता है जो कि नवीन चर्चाओं को जन्म दे सकते हैं। निष्कर्षतः यह पुस्तक भारतीय प्रमाणशास्त्र के उपरी निर्धारणों और निष्कर्षों को उनके तल में जाकर विवेचित करता है जो इस विषय पर लिखे गये हिन्दी और अंग्रेजी के अन्यान्य ग्रंथों में विरले ही उपलब्ध होता है।

शोध छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

